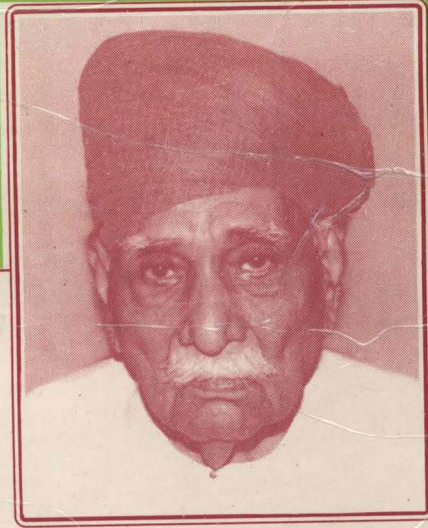


श्रमण ŚRAMAᅇA

स्व० भँवरलाल जी नाहटा स्मृति अंक



जनवरी-जून 2002



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

PĀRŚWANĀTHA VIDYĀPĪᅇHA, VARANASI

श्रमणा

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

(स्व० भँवरलाल जी नाहटा स्मृति अंक)

३.

अंक 1-6 जनवरी-जून संयुक्तांक 2002

प्रधान सम्पादक

प्रोफेसर सागरमल जैन

सम्पादक

डॉ. शिवप्रसाद

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री, समाचार, विज्ञापन एवं सदस्यता आदि के लिए सम्पर्क करें

सम्पादक

श्रमणा

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

आई.टी.आई. मार्ग, करौंदी

पो.ऑ.-बी.एच.यू.

वाराणसी-221005 (उ.प्र.)

e-mail : parshwanathvidyapeeth@rediffmail.com

दूरभाष : 316521, 318046

फैक्स : 0542-318046

ISSN-0972-1002

वार्षिक सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए : रु. 150.00

व्यक्तियों के लिए : रु. 100.00

इस अंक का मूल्य : रु. 50.00

आजीवन सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए : रु. 1000.00

व्यक्तियों के लिए : रु. 500.00

नोट : सदस्यता शुल्क का चेक या ड्राफ्ट केवल पार्श्वनाथ विद्यापीठ के नाम से ही भेजे।

सम्पादकीय

श्रमण जनवरी-जून २००२ का संयुक्तांक पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हुए हर्ष का अनुभव हो रहा है। यद्यपि यह अंक अब से लगभग ६ माह पूर्व ही प्रकाशित हो जाना चाहिए था किन्तु कुछ अपरिहार्य कारणों से इसके प्रकाशन में विलम्ब होता रहा, इसके लिये हम अपने सुधी पाठकों से क्षमाप्रार्थी हैं। यह अंक जैन साहित्य, इतिहास और कला के मर्मज्ञ, निष्काम विद्याव्यसनी, सरस्वती के वरदपुत्र स्वनामधन्य भँवरलाल जी नाहटा के स्मृति अंक के रूप में है। हमारी हार्दिक इच्छा थी कि इस अंक में हम नाहटा जी के लेखों को ही स्थान दें किन्तु हम अपनी सीमाओं के कारण ऐसा करने में असमर्थ रहे। इस अंक के प्रारम्भ में नाहटा जी की संक्षिप्त जीवनी तथा उनके द्वारा लिखित और सम्पादित ग्रन्थों की सूची दी गयी है जो हमें उनके परिजनों से प्राप्त हुई है। यहाँ हम उसे अविकल रूप से प्रकाशित कर रहे हैं। इस अंक में अन्य लेख जैन साहित्य, दर्शन, भाषा और इतिहास से सम्बन्धित हैं। हमारा प्रयास यही है कि उक्त विषयों पर लिखे गये प्रामाणिक और विवाद रहित लेख ही **श्रमण** में प्रकाशित हों। यह कि सदैव ऐसे लेख प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं होता फिर भी यह हमें हर्ष हो रहा है कि विद्वद्जनों के सहयोग से हम इस अंक में जो भी सामग्री दे रहे हैं वे प्रामाणिक और प्रायः विवादों से रहित हैं।

श्रमण का यह अंक आपको कैसा लगा, इस सन्दर्भ में आप अपने सुझावों से अवगत कराने की कृपा करें ताकि आगामी अंकों में आवश्यक संशोधन/परिवर्धन किया जा सके। सम्माननीय लेखकों से भी निवेदन है कि **श्रमण** के प्रकाशनार्थ प्रेषित अपने लेखों के सन्दर्भ मूल-ग्रन्थों से मिलान कर ही भेजें अन्यथा उन्हें प्रकाशित कर पाना हमारे लिये सम्भव न हो सकेगा।

सम्पादक





जैन साहित्य महारथी
भँवरलालजी नाहटा

जन्म-१९ सितम्बर १९११

स्वर्गवास-११ फरवरी २००२

श्रमण

जनवरी-जून 2002 संयुक्तांक

साहित्य महारथी भँवरलाल जी नाहटा स्मृति अङ्क

सम्पादकीय
विषयसूची

हिन्दी खण्ड

१. स्व० भँवरलालजी नाहटा - एक युगपुरुष एवं अनुपम प्रेरणा स्रोत १-१२
 २. डॉ० सागरमल जैन द्वारा गुणस्थान-सिद्धान्त की गवेषणा १३-२४
- डॉ० धर्मचन्द्र जैन
 ३. पार्श्वनाथ के सिद्धान्त : दिगम्बर-श्वेताम्बर दृष्टि २५-३२
- प्रो० सुदर्शन लाल जैन
 ४. हिन्दी काव्य परम्परा में अपभ्रंश महाकाव्यों का महत्त्व ३३-३८
- साध्वी डॉ० मधुबाला
 ५. भारतीय आर्य भाषाओं की विकास यात्रा में अपभ्रंश का स्थान ३९-४३
- साध्वी डॉ० मधुबाला
 ६. प्रकीर्णक साहित्य : एक अवलोकन - डॉ० अतुल कुमार प्रसाद सिंह ४४-७२
 ७. जैन संस्कृति में पर्यावरण चेतना - डॉ० श्रीरञ्जनसूरिदेव ६३-६७
 ८. पादलिप्तसूरि रचित 'तरंगवईकहा' (तरंगवती कथा) ६८-७०
- श्री वेदप्रकाश गर्ग
 ९. नाट्यशास्त्र और अभिनवभारती में शान्तरस की अभिनेयता प्रतिपादन ७१-७९
और विश्वशान्ति में इसकी उपादेयता - डॉ० मधु अग्रवाल
 १०. मोक्ष मार्ग में सम्यग्दर्शन की भूमिका - डॉ० कमलेश कुमार जैन ८०-८६
 ११. समराइच्चकहा में व्यवसायों का सामाजिक आधार ८७-९५
- राघवेन्द्र प्रताप सिंह
 १२. जैन दर्शन में परमात्मा का स्वरूप एवं स्थान ९६-९९
(शोधप्रबन्ध-सार) - श्रीमती कल्पना
 १३. जैनागमों में भारतीय शिक्षा के मूल्य - दुलीचन्द्र जैन १००-१०६
 १४. गांधी चिन्तन में अहिंसा एवं उसकी प्रासंगिकता १०७-११२
(जेहादी हिंसा के सन्दर्भ में) - राजेन्द्र सिंह 'गुर्जर'
 १५. खरतरगच्छ-आद्यपक्षीयशाखा का इतिहास - डॉ० शिवप्रसाद ११३-१२१
- ## अंग्रेजी खण्ड
16. Jaina Campu Literature Dr. Ashok Kumar Singh 122-131
 17. Misunderstanding vis-a-vis Understanding with 132-145
reference to Jainism Dr. Rajjan Kumar
 १८. विद्यापीठ के प्रांगण में १४६-१५७
 १९. जैन जगत् १५८-१७२
 २०. साहित्य-सत्कार १७३-१८१

स्व० भँवरलालजी नाहटा – एक युगपुरुष

(संक्षिप्त परिचय)

जैन-साहित्य महारथी, युगपुरुष स्व० भँवरलालजी नाहटा का परिचय देना सूर्य को दीपक दिखलाने जैसा कार्य है। सात दशकों तक निरन्तर जैन-साहित्य, धर्म, कला, पुरातत्व आदि के क्षेत्र में अध्ययन, लेखन, शोध सम्बन्धी आपके योगदान से सम्पूर्ण शिक्षाजगत् भली-भांति अवगत है। किसी उपाधि या विशेषण से आपके योगदान का मूल्यांकन सम्भव नहीं। विगत ११ फरवरी को ९२ वर्षों की दीर्घ आयु में आपके निधन से एक युग का अन्त हो गया।

प्रातः स्मरणीय भँवरलालजी नाहटा का जन्म वि०सं० १९६८ आश्विन वदि १२ मंगलवार तदनुसार १९ सितम्बर १९११ ईस्वी को बीकानेर शहर में एक सम्पन्न जैन परिवार में हुआ। आपके पिता का नाम श्री भैरूमलजी व माता का नाम श्रीमती तीजा देवी था। अगरचन्दजी नाहटा आपके हमउम्र किन्तु रिश्ते में चाचा थे। आपने आजीवन उन्हें काकाजी अगरचन्दजी कहकर उनके प्रति जो सम्मान प्रकट किया वह अपने आपमें अनूठी और सभी के लिए अनुकरणीय है। आपकी स्कूली शिक्षा श्री अगरचन्दजी के साथ ५वीं कक्षा तक ही हुई और परिस्थितिवश आपको व्यवसाय में जुट जाना पड़ा। खरतरगच्छाचार्य श्री सुखसागरजी महाराज व आचार्य श्री जिनकृपाचन्द्रसूरिजी महाराज के सात्रिध्य, प्रेरणा और मार्गदर्शन में आप दोनों के अध्ययन, लेखन व संशोधन का जो क्रम प्रारम्भ हुआ वह निरन्तर बढ़ता ही गया और अबाध रूप से आजीवन चलता रहा। सन् १९८२ में अगरचन्दजी नाहटा के आकस्मिक निधन के पश्चात् साहित्यजगत् में जो रिक्तता उत्पन्न हुई उसे भँवरलालजी ने कभी भी अनुभव नहीं होने दिया और वृद्धावस्था के बावजूद अगले २० वर्षों तक अपने जीवन के अन्तिम समय में भी साहित्य लेखन-संशोधन में पूर्ववत् तन-मन और धन से समर्पित रहे।

अपने जीवनकाल में नाहटाजी ने कई हजार शोध लेख लिखे जो देश की विभिन्न प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित हुए। बड़ी संख्या में आपके शोधलेख अगरचन्दजी के नाम से ही छपे तथा बहुत से लेखों और पुस्तकों के लेखक और सम्पादक के रूप में नाहटाद्वय (अगरचन्दजी- भँवरलालजी) का नाम मिलता है। आपने अपने लम्बे जीवनकाल में अनेक शोधार्थियों को मार्गदर्शन देकर उनसे विभिन्न विषयों पर शोधकार्य सम्पन्न कराया। आपकी विद्वत्ता का लाभ न केवल शोधच्छात्रों को मिला बल्कि

अनेक साधु-साध्वियों को आपने धार्मिक, साहित्यिक व पुरालिपिज्ञान प्रदान कर उनकी ज्ञान-साधना में सहायता की। आपने प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, पुरानी व नयी राजस्थानी तथा गुजराती, हिन्दी, अवहट्टी, बंगाली आदि भाषाओं में लेखन-कार्य किया। आपके द्वारा रचित विशाल साहित्य देश-विदेश के सभी प्रमुख विश्वविद्यालयों में सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप में लम्बे समय से उपयोग में आ रहा है। आपने खरतरगच्छ के विभिन्न रचनाकारों की कृतियों को विभिन्न ग्रन्थ भण्डारों से बड़े ही परिश्रम से ढूँढ़-ढूँढ़ कर उन्हें प्रकाशित कराया। बाइस वर्षों तक निरन्तर आपने **कुशलनिर्देश** नामक मासिक पत्रिका का सम्पादन और प्रकाशन किया। वर्तमान में भी आपश्री की प्रेरणा से ही आपके पौत्र श्री सुशील नाहटा के सम्पादकत्व में **गणधर इन्द्रभूति** नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन पिछले कुछ समय से किया जा रहा है। आपकी ही प्रेरणा से आपके अन्तेवासी महोपाध्याय विनयसागरजी ने खरतरगच्छ के छोटे-बड़े सभी रचनाकारों और उनकी रचनाओं की सूची तैयार की जिसका अभी तक अल्पांश ही प्रकाशित हो पाया है। आप स्वयं अत्यन्त परिश्रम से कार्य करते थे तथा दूसरों को भी वैसा ही करने की प्रेरणा देते थे।

अगरचन्दजी व भँवरलालजी नाहटा ने अपने लम्बे जीवनकाल में दो अन्य विशिष्ट कार्य किये। ये हैं— बीकानेर में **अभय जैन ग्रन्थालय** और **शंकरदान नाहटा कला भवन** की स्थापना। अभय जैन ग्रन्थालय में ६०००० पाण्डुलिपियाँ, एक लाख से अधिक मुद्रित ग्रन्थ तथा बहुत बड़ी संख्या में दुर्लभ पत्र-पत्रिकाओं की सम्पूर्ण फाइलें संरक्षित हैं। शंकरदान नाहटा कला भवन में अनेक दुर्लभ एवं प्राचीन कलाकृतियाँ संरक्षित हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि उक्त संग्रह नाहटाद्वय ने व्यक्तिगत रूप से अपने पुरुषार्थ के बल पर स्थापित किया और इसमें अपार धनराशि व्यय की। अगरचन्दजी के निधन तथा भँवरलालजी के कलकत्ता में निवास करने के कारण उक्त दोनों संस्थायें अव्यवस्था की शिकार हो गयीं।* अब भँवरलालजी नाहटा के निधन से उनकी और भी उपेक्षा न हो इस विषय में जागरूक रहने की आवश्यकता है।

नाहटाजी का पारिवारिक जीवन अत्यन्त सुखमय रहा है। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती जतनकुमारी धार्मिक कार्यों व तपस्याओं में प्रत्यक्ष तथा अध्ययन, लेखन, शोध आदि में अप्रत्यक्ष रूप से आपकी सहायक रही हैं। आपके दो पुत्र श्री पारस कुमार जी व श्री पदमचन्द जी तथा २ पुत्रियाँ श्रीकान्ता एवं चन्द्रकान्ता हैं। ये सभी अपने माता-पिता के समान ही अत्यन्त विनम्र, सुसंस्कारी, धार्मिक कार्यों में अग्रणी तथा समाजोत्थान में पूर्ण सक्रिय हैं।

*. अभय जैनग्रन्थमाला की व्यवस्था इस समय स्व० अगरचन्द जी नाहटा के ज्येष्ठ पुत्र श्री धरमचन्द जी नाहटा के हाथों में हैं और वे उसका सुचारु रूप से सञ्चालन कर रहे हैं।

श्री पारसकुमार जी कुशल व्यवसायी, शुद्ध व्यावहारिक व गम्भीर व्यक्तित्व से सम्पन्न हैं। आपने एम०काम० और एल०एल०बी० की उच्च उपाधि प्राप्त की है। आपके चार पुत्र और एक पुत्री हैं। आपके चारों पुत्र अपने-अपने व्यवसाय में निपुण हैं।

श्रीपदमचन्दजी ने पारिवारिक व्यवसाय के साथ नये क्षेत्रों में भी प्रवेश किया और विरासत में प्राप्त व्यापारिक कुशलता से उन्हें गति प्रदान की। विभिन्न धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं को अपना कुशल नेतृत्व प्रदान कर आपने अपने परिवार के गौरव में अभिवृद्धि की है। आप लम्बे समय से खरतरगच्छ महासंघ- पूर्वी क्षेत्र के अध्यक्ष रहे हैं और वर्तमान में अखिल भारतीय खरतरगच्छ महासंघ के उपाध्यक्ष के रूप में अपनी सेवायें अर्पित कर रहे हैं। आपके एकमात्र पुत्र श्री पंकज नाहटा आपके व्यापार को अत्यन्त कुशलता से सम्पादित कर रहे हैं।

नाहटाजी के अनुज हरखचन्दजी नाहटा ने लीक से हट कर नये व्यापारिक क्षेत्रों में अपना वर्चस्व स्थापित किया। उन्होंने अपने राजनैतिक सम्पर्कों का उपयोग धर्म व समाजसेवा में किया तथा राष्ट्रीय स्तर की विभिन्न संस्थाओं में सक्रिय रूप से अग्रणी की भूमिका निभायी। बाड़मेर का प्रसिद्ध जहाज मन्दिर आपकी अनुपम देन है। आपके निधन के पश्चात् आपके तीनों पुत्र पिता द्वारा दिखाये गये पदचिह्नों पर चलते हुए समाज में अग्रगण्य स्थान बनाये हुए हैं।

सुप्रसिद्ध समाजसेवी, प्रमुख उद्योगपति तथा पंचाल शोध संस्थान के कार्यकारी अध्यक्ष श्री हजारीमलजी बांठिया भँवरलालजी नाहटा के फुफेरे भाई हैं। आपने बीकानेर में सुप्रसिद्ध इटालवी विद्वान् डॉ० एल०पी०टेस्सीटोरी की कब्र को ढूँढ़ कर उसका जीर्णोद्धार कराया तथा मोतीझील, कानुपर में उनकी प्रतिमा भी स्थापित करवायी। जैनशास्त्र विशारदा, सुप्रसिद्ध जर्मन महिला कुमारी शालोटे क्राउजे (सुभद्रा देवी) द्वारा किये गये शोधकार्यों के प्रकाशन में आप प्रमुख भूमिका निभा रहे हैं।

भँवरलालजी नाहटा के एक भानजे श्री तनसुखराज डागा वीरायतन -राजगीर के मन्त्री हैं। मानवसेवा के कार्यों द्वारा आप राष्ट्रसेवा का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

नाहटाजी के दूसरे भानजे श्री सूरजमलजी पुगलिया ने तो समय के पूर्व ही अपनी महत्त्वपूर्ण सरकारी सेवा से निवृत्ति ले ली और अपना पूर्ण समय विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से अस्पताल, स्कूल, कालेज, धर्मशाला, विकलांग सेवा, मन्दिरों तथा तीर्थ आदि की देखरेख में व्यतीत कर रहे हैं।

साधु-साध्वी के रूप में दीक्षित होकर जिन शासन की सेवा करने में भी नाहटा परिवार पीछे नहीं रहा। गणिवर्य श्री महिमाप्रभ सागर, महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर, महोपाध्याय ललितप्रभ सागर, पूज्या साध्वी श्री चन्द्रप्रभा श्रीजी, श्री वर्धमान श्रीजी,

श्री जीतयशा श्रीजी आपके परिवार से ही हैं।

विनय और सादगी की प्रतिमूर्ति स्व० नाहटाजी का सम्पर्क अपने समय के प्रायः सभी शीर्षस्थ विद्वानों से रहा है। इनमें स्व० पूरनचन्दजी नाहर, मुनि जिनविजय, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, मुनिकांतिसागर जी, मोहनलाल दलीचन्द देसाई, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पं० दलसुख मालवणिया, डॉ० दशरथ शर्मा, श्री नरोत्तमदास स्वामी, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० रघुवीर सिंह, डॉ० विश्वम्भरनाथ पाण्डेय, प्रो० नथमल टांटिया, डॉ० रमनलाल ची० शाह, प्रो० सागरमल जैन, प्रो० मधुसूदन ढांकी, प्रो० यू०पी० शाह, महो० विनयसागर आदि प्रमुख हैं। महो० विनयसागरजी तो स्व० नाहटा जी द्वारा प्रारम्भ की गयी अध्ययन, सम्पादन एवं शोध की शानदार परम्परा को लम्बे समय से आगे बढ़ा रहे हैं। चूँकि अब नाहटाजी नहीं रहे अतः उन पर और भी अधिक जिम्मेदारी आ गयी है।

भँवरलालजी नाहटा द्वारा लिखित, सम्पादित एवं अनूदित रचनाओं की सूची हमें उनके सुपुत्र श्री पदमचन्दजी नाहटा और पौत्र श्री सुशील नाहटा के सौजन्य से प्राप्त हुई है, यहाँ हम उसे अविकल रूप से प्रकाशित कर रहे हैं।

स्व० नाहटा जी द्वारा लिखित, सम्पादित एवं अनूदित कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाओं का परिचय निम्नलिखित है। ये समय की शिला पर लिखे गये अमिट लेख हैं एवं उनके कालजयी व्यक्तित्व का प्रामाणिक दस्तावेज भी।

१. द्रव्यपरीक्षा और धातुत्वप्ति— इसके मूल लेखक ठक्कुर फेरु धांधिया हैं (रत्नपरीक्षादि ग्रन्थ संग्रह का दूसरा व तीसरा भाग)।

भँवरलालजी नाहटा ने लगभग ५५ वर्ष पूर्व अपनी शोधपिपासा की तृप्ति हेतु कलकत्ता के एक ज्ञान-भण्डार को खंगालते हुए छः सौ वर्ष पुरानी पाण्डुलिपि खोज निकाली और उसकी प्रेसकापी तैयार कर पुरातत्त्वाचार्य मुनि जिनविजयजी के पास प्रकाशनार्थ भेजी जो सन् १९६१ में **रत्नपरीक्षादिसप्तग्रन्थसंग्रह** नाम से राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर द्वारा प्रकाशित हुई।

२. मातृकापदशृङ्गाररसकलितगाथाकोश— यशोभद्र के शिष्य वीरभद्रकृत यह कृति विशुद्ध रूप से एक शृङ्गारपरक रचना है। इस गाथाकोश की विशेषता यह है कि इसमें मातृका पदों अर्थात् स्वर और व्यञ्जनों में से क्रमशः एक-एक को गाथा का आद्यअक्षर बनाकर शृङ्गारपरक गाथाओं की रचना की गयी है। इसमें कुल ४० गाथाएँ हैं। गाथाएँ शृङ्गारिक हैं, फिर भी वे मर्यादाओं का अतिक्रमण नहीं करती। जहाँ मर्यादा से बाहर कोई संकेत करना होता है कवि उसे अपने मौन से ही इंगित कर देता है जैसे इस गाथाकोश के अन्त में कवि कहता है—

पच्छा जं तं उ वित्तं अकह कहा कह कहिज्जंति अर्थात् उसके पश्चात् जो कुछ घटित हुआ वह अकथनीय है- कैसे कहा जाय? इस प्रकार मूक भाव से भी कथ्य को अभिव्यक्ति दे देना, यह कवि की सम्प्रेषणशीलता का स्पष्ट प्रमाण है। यह कृति पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी से प्रकाशित है।

३. सिरीसहजाणंदघनचरियं— कलकत्ता विश्वविद्यालय के भाषा-विज्ञान विभाग के प्रोफेसर सत्यरंजन बनर्जी ने इस ग्रन्थ की भूमिका में कहा है—

“भँवरलालजी नाहटा द्वारा रचित सहजाणंदघनचरियं वर्तमानकाल में रचित एक अपभ्रंश काव्य है। मूलतः यह काव्य अपभ्रंश की अन्तिम स्तर की भाषा अवहट्ट में रचित है। विद्यापति की कीर्तिलता व पिंगलाचार्य की प्राकृत पिंगल इसी भाषा में रचित हैं। श्री नाहटाजी इस काल के विद्यापति या पिंगलाचार्य थे।” यह महाकाव्य २४४ गाथाओं में हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित है।

पूर्वकालीन कवियों की रचनाओं की तुलना में नाहटाजी के उक्त काव्य का मान किसी अंश से कम नहीं है। कवित्व की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अतुलनीय है।

इस काव्य के शब्द अत्यन्त सहज व सरल हैं जिससे भाषा का सामान्य ज्ञान रखने वाले भी इसका रसास्वादन कर सकेंगे। उपमादि अलङ्कारों का भी इसमें अभाव नहीं है तथा छन्द सरल व त्रुटिहीन हैं।

४. अलंकारदप्पन— यह प्राकृत-भाषा में रचित एक अलङ्कार ग्रन्थ है जिसका हिन्दी अनुवाद संस्कृतच्छाया सहित श्री नाहटाजी ने किया है। यह ग्रन्थ पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी से वर्ष २००१ में प्रकाशित हुई है।

इस ग्रन्थ में अलङ्कार-सम्बन्धी जो विवरण दिया गया है इससे इसका निर्माणकाल ८वीं-११वीं शताब्दी का माना जा सकता है। इस रचना के कर्ता का पता नहीं चलता। प्राकृत-भाषा की अलङ्कार-सम्बन्धी यह एकमात्र रचना जैसलमेर के बड़े ज्ञान भण्डार से ताड़पत्रीय प्रति के रूप में प्राप्त हुई है।

५. विविधतीर्थकल्प— प्राकृत व संस्कृत-भाषा में जिनप्रभसूरि विरचित कल्पप्रदीप अपरनाम विविधतीर्थकल्प नामक इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद नाहटाजी ने पूर्ण कर सन् १९७८ में श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर (राजस्थान) से प्रकाशित करवाया।

कल्पप्रदीप अथवा विशेषतया प्रसिद्ध **विविधतीर्थकल्प** नामक यह ग्रन्थ जैन-साहित्य का एक विशिष्ट रत्न है। ऐतिहासिक और भौगोलिक दोनों ही दृष्टियों से इस प्रकार का कोई दूसरा ग्रन्थ अभी तक ज्ञात नहीं हुआ। यह ग्रन्थ विक्रम १४वीं शताब्दी में जैनधर्म के जितने पुरातन और विद्यमान प्रसिद्ध-प्रसिद्ध तीर्थस्थान थे उनके

सम्बन्ध में प्रायः एक प्रकार को गाईड बुक है। इस ग्रन्थ का विशिष्ट अध्ययन पार्श्वनाथ विद्यापीठ से १९९० में प्रकाशित हुआ है।

६. बानगी (नाहटाजी की बानगी)— यह राजस्थानी-भाषा में रचित संस्मरणों, रेखाचित्रों एवं लघुकथाओं का सरलतम संकलन है जिसमें इन्होंने अपनी मातृभाषा की विविध विधाओं में कलात्मकता को उकेरा है। राजस्थानी-साहित्य के श्रेष्ठ साहित्य प्रकाशन भण्डार में यह एक महत्त्वपूर्ण अभिवृद्धि है।

यह संकलन वस्तुतः लोकजीवन एवं लोकसाहित्य से सशक्त, जीवन्त, सरस और सहज चित्रों की बानगी प्रस्तुत करती है और इस प्रकार मरुधरा की धरती के स्वर को अधिक प्राणवान् बनाती है।

प्रस्तुत कृति शान्तिलाल भारद्वाज द्वारा (राजस्थान-साहित्य अकादमी संगम) उदयपुर से १९६५ ई० में प्रकाशित करवायी गयी।

७. आनन्दघनचौबीसी— परमअवधूत योगिराज आनन्दघनजी रचित चौबीस तीर्थङ्करों के स्तवन एवं पदों का न केवल जैन अपितु भारतीय समाज में आज तक एक विशिष्ट स्थान रहा है। ये स्तवन मुमुक्षु एवं साधकों के हृदय को झंकृत करने वाले एवं आत्मानुभूति को और बढ़ाने वाले होने से मानस को भक्तिरस से आप्लावित कर देते हैं।

८. युगप्रधानश्रीजिनचन्द्रसूरि— यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ श्री अभय जैन ग्रन्थमाला के सप्तम पुष्प के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। इसका प्रकाशन वर्ष सं० १९९२ है। यह ग्रन्थ भँवरलालजी नाहटा ने अपने काका अगरचन्दजी नाहटा के साथ लिखा है। लेखकद्वय ने अपने सारगर्भित वक्तव्य में बहुमूल्य शोध-सामग्री प्रस्तुत की है। इसके अन्तर्गत उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं और उनका विद्वत्तापूर्ण समाधान-उत्तर भी दिया है। इसकी प्रस्तावना मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने लिखी है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह ग्रन्थ संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, बंगला, अंग्रेजी, प्राचीन भाषाओं और सैकड़ों हस्तलिखित प्राचीन पाण्डुलिपियों, प्रशस्तियों, पट्टावलियों, रिपोर्टों आदि के गहन अध्ययन, चिन्तन और मनुन के आधार पर अत्यन्त प्रामाणिकता के साथ लिखा गया है।

९. ऐतिहासिकजैनकाव्यसंग्रह— भँवरलालजी नाहटा एवं अगरचन्दजी नाहटा के सम्पादकत्व में सं० १९९४ में श्री अभय जैन ग्रन्थालय के अष्टम पुष्प के रूप में इस ग्रन्थरत्न का प्रगटन हुआ है। इस पुस्तक का समर्पण श्री दानमलजी नाहटा की स्वर्गस्थ आत्मा को उनके अनुज और उक्त ग्रन्थ के प्रकाशक श्री शंकरदानजी नाहटा ने किया है।

यह ग्रन्थ तीन दृष्टियों से अत्यन्त उपयोगी है। पहला दृष्टिकोण ऐतिहासिकता का है, द्वितीय भाषा की दृष्टि से और तृतीय साहित्यिकता की दृष्टि से इसमें कतिपय साधारण काव्यों के अतिरिक्त प्रायः अन्य सभी काव्य ऐतिहासिक दृष्टि से संग्रहीत किये गये हैं। अद्यावधि प्रकाशित संग्रहों से भाषा-साहित्य की दृष्टि से यह संग्रह सर्वाधिक उपयोगी है। श्री हीरालाल जैन ने इसकी विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना लिखी है। ग्रन्थ में उन पाण्डुलिपियों का परिचय दिया गया है जिनका उपयोग इस ग्रन्थ में किया गया है। पाण्डुलिपि, ताड़पत्र, हस्तलिपि आदि से सम्बद्ध एकादश चित्रों से यह ग्रन्थ सुसज्जित है।

१०. समयसुन्दरकृतिकुसुमाञ्जलि— भँवरलालजी नाहटा एवं अगरचन्दजी नाहटा के सम्पादकत्व में श्री अभय जैन ग्रन्थालय से प्रस्फुटित यह कृति अपना विशेष महत्त्व रखती है। इसमें कविवर समयसुन्दरजी की ५६३ लघु रचनाओं का संग्रह है। डॉ० हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने इसकी भूमिका लिखकर इस ग्रन्थ के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। इसमें सन् १६९७ के अकाल का बड़ा ही जीवन्त वर्णन है। वस्तुतः नाहटाजी ने इस ग्रन्थ का सम्पादन-प्रकाशन करके हिन्दी-साहित्य के अध्येताओं के सामने बहुत महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है।

११. युगप्रधानश्रीजिनदत्तसूरि— भँवरलालजी नाहटा एवं अगरचन्दजी नाहटा ने यह ग्रन्थ लिखा है। इसका प्रकाशन श्री अभय जैन ग्रन्थमाला के बारहवें पुष्प के रूप में हुआ है। इसे लेखकों ने अपने स्व० पिता एवं पितामह शंकरदानजी नाहटा को समर्पित किया है। इसका प्रकाशन संवत् २००३ में हुआ।

इस ग्रन्थ को लिखने के लिए लेखकद्वय को पर्याप्त श्रम करना पड़ा, तदर्थ उन्होंने जैसलमेर की यात्रा कर प्राचीन ज्ञान भण्डारों से चरित्रनायक से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त की। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सूरिजी से सम्बन्धित पूर्ण प्रमाणित यह प्रथम शोधपूर्ण ग्रन्थ है।

१२. क्यामखां रासो— इस ग्रन्थ के मूल रचयिता मुस्लिम कवि जान हैं। इसका सम्पादन भँवरलालजी नाहटा ने अगरचन्दजी नाहटा तथा डॉ० दशरथ शर्मा के साथ किया है। इसका प्रकाशन राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिर, जयपुर की राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला से संवत् २०१० में हुआ। यह रासो अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसकी साहित्यिक महत्ता उच्चकोटि की है। इसकी शैली में प्रवाह है। इसमें कवि ने यथाशक्ति मितभाषिता और सत्य का आश्रय लिया है। इसकी एकमात्र प्रति झुंझनू के जैन भण्डार से प्राप्त हुई थी।

१३. बीकानेरजैनलेखसंग्रह— नाहटाद्वय की कीर्ति को चातुर्दिक प्रसारित करने वाले ग्रन्थरत्नों में से यह ग्रन्थ भी एक है। ग्रन्थ के प्राक्कथन लेखक प्रो० वासुदेवशरण अग्रवाल ने नाहटाजी के प्रकाण्ड पाण्डित्य, श्रमनिष्ठा और शोधरुचि की

भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्री अभय जैन ग्रन्थालय के पञ्चदश पुष्प के रूप में सन् १९५६ में हुआ। इसमें बीकानेर राज्य के २६१७ तथा जैसलमेर के १७१ अप्रकाशित लेखों का संग्रह है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में शोधपूर्ण विस्तृत भूमिका दी गयी है। परिशिष्ट में बृहद् ज्ञान भण्डार की वसीयत, श्री जिनकृपाचन्द्रसूरि उपाश्रय का व्यवस्थापत्र और पर्युषणों में कसाईबाड़ा बन्दी के मुचलके की नकल है। नाहटाजी ने लेख संग्रह के क्षेत्र में यह बहुत बड़ा काम किया है। ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ पर उनका कठिन श्रम झलकता है और उनकी अगाध विद्वत्ता ग्रन्थ के आद्यान्त तक। इस उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थ प्रणयन के लिए नाहटाद्वय की जितनी भी प्रशंसा की जाय, वह थोड़ी है। इसमें लगभग १०० चित्र भी दिये गये हैं।

१४. सीतारामचौपाई— इस ग्रन्थ का सम्पादन भँवरलालजी नाहटा एवं अगरचन्दजी नाहटा ने किया है। इसका प्रकाशन सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट से संवत् २०१९ में हुआ है।

महोपाध्याय कविवर समयसुन्दरजी १७वीं सदी के विद्वान् सन्त थे। आपका साहित्य बहुत विशाल है। आपने गद्य और पद्य दोनों ही विधाओं में साहित्य-सर्जना की है। आपकी पद्य रचनाओं में **सीतारामचौपाई** सबसे बड़ी रचना है। इसका परिमाण ३७०० श्लोक परिमित है। जैन-परम्परा की रामकथा को इस महाकाव्य में गुम्फित किया गया है।

१५. रत्नपरीक्षा— ठक्कुरफेरु द्वारा विरचित यह ग्रन्थ लगभग आठ सौ वर्ष प्राचीन है। मूल ग्रन्थ प्राकृत-भाषा में रचित है। इसका हिन्दी अनुवाद अगरचन्द भँवरलाल नाहटा ने किया है।

रत्नपरीक्षा-सम्बन्धी इने-गिने ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुस्तक की भूमिका में विद्वान् सम्पादकों ने रत्नपरीक्षा-सम्बन्धी हिन्दी-साहित्य के ग्रन्थों का सविवरण उल्लेख किया है। इसमें चोटी के विद्वानों के लेख भी संग्रहीत हैं। परिशिष्ट में नवरत्नपरीक्षा, मोहरांपरीक्षा इत्यादि देकर पुस्तक को और भी उपयोगी बनाया गया है। प्रसिद्ध जौहरी श्री राजरूपजी टाँक ने रत्नों पर प्रकाश डालते हुए इस ग्रन्थ को विश्व-साहित्य में अजोड़ ग्रन्थ बतलाया है।

१६. मणिधारी श्रीजिनचन्द्रसूरि— संवत् १९९६ में प्रकाशित अगरचन्द भँवरलाल नाहटा की यह एक अनुपम कृति है। इसकी प्रस्तावना डॉ० दशरथ शर्मा ने लिखी है। श्री अभय जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित ७६ पृष्ठ की यह पुस्तक न्यू राजस्थान प्रेस ७३-ए चासाधोबापाड़ा स्ट्रीट, कलकत्ता द्वारा मुद्रित है।

१७. युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरिचरितम्— प्रस्तुत पुस्तक उपाध्याय लब्धिमुनि द्वारा विरचित और भँवरलाल जी नाहटा द्वारा सम्पादित है। इसमें ६ सर्ग और १२१२

पद्य और कुछ अंश गद्य भी हैं।

१८. दादाश्रीजिनकुशलसूरि— प्रस्तुत पुस्तक तृतीय दादासाहब पर अगरचन्द भँवरलाल नाहटा द्वारा लिखित और नाहटा ब्रदर्स द्वारा प्रकाशित श्री अभय जैन ग्रन्थमाला का २०वाँ पुष्प है। इसकी प्रस्तावना मुनि जिनविजयजी ने लिखी है जिसमें उक्त कृति का सारांश सहित अन्य प्रकाशित/अप्रकाशित ज्ञान भण्डार की जानकारी दी गयी है।

१९. हम्मीरायण— प्रस्तुत पुस्तक जयतिगदे चौहान के पुत्र रणथम्भौर के राजा हम्मीरदे की कथा है जो भाण्डाजी व्यास द्वारा रचित और सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर द्वारा प्रकाशित है। श्री भँवरलालजी नाहटा द्वारा यह पुस्तक सम्पादित है। इसमें प्रकाशकीय श्री लालचन्द कोठारी, दो शब्द भँवरलाल नाहटा व भूमिका डॉ०दशरथ शर्मा ने लिखी है।

२०. समयसुन्दररासपञ्चक— युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि से दीक्षित, सकलचन्दगणि के शिष्य महोपाध्याय समयसुन्दरजी की जीवनी के साथ उनकी रचनाओं को भँवरलालजी नाहटा ने सम्पादित किया है। सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीच्यूट, बीकानेर द्वारा यह ग्रन्थ वि०सं० २०१७ में प्रकाशित हुआ है।

२१. पद्मिनीचरित्रचौपाई— प्रस्तुत शोधपूर्ण ग्रन्थ सौन्दर्य, बुद्धियुक्त धैर्य, अदम्य साहसी, पातिव्रत्य व सतीत्व की प्रतीक रानी पद्मावती पर रचित, संगृहीत व शोधसिद्ध रचना है। भँवरलालजी नाहटा द्वारा सम्पादित, सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर से वि०सं० २०१८ में प्रकाशित यह कृति डॉ० दशरथ शर्मा के विवेचन सहित कवि लब्धोदय की प्रथम रचना है।

२२. सतीभृगावती— भँवरलाल जी नाहटा द्वारा यह पुस्तक १७ वर्ष की आयु में १९२८ ई० में लिखी गयी थी, जिसे श्री जिनदत्तसूरि सेवा संघ ने पुनः प्रकाशित कराया।

२३. तरंगवती— आचार्य श्रीपादलिप्तसूरि की प्राकृतकृति का संक्षिप्त रूप 'तरंगवती' शतावधानी पं० धीरजलाल शाह की गुजराती में प्रकाशित (श्रेणी ५, भाग १-२) 'बाल ग्रन्थावली' का हिन्दी अनुवाद है। यह कृति श्री जिनदत्तसूरि सेवा संघ द्वारा प्रकाशित है।

२४. कलकत्ते की जैन कार्तिक रथयात्रा महोत्सव— विश्व की अतुलनीय जैन रथयात्रा का उद्देश्य, महत्ता, ऐतिहासिक-तथ्य सप्रमाण लिखकर भँवरलालजी नाहटा ने नाहटा ब्रदर्स व जोगीराम बैजनाथ (सरावगी) से प्रकाशित कराया। इसका प्रकाशन १९५७ ई० में हुआ।

२५. **नगरकोटकांगडामहातीर्थ**— हिमाचल प्रदेश के जैनतीर्थ, जिसे उत्तरी भारत का शत्रुञ्जय तीर्थ कहा जाता है, पर भँवरलालजी नाहटा की यह शोध पुस्तक बंसीलालजी कोचर शतवार्षिकी अभिनन्दन समिति द्वारा प्रकाशित है।

२६. **श्रीस्वर्णगिरिजालोर**— यह कृति १०८ पृष्ठों में लिखकर भँवरलाल जी नाहटा ने प्राकृत भारती अकादमी जयपुर और बी०जे० नाहटा फाउण्डेशन, कलकत्ता से ई०सन् १९९५ में प्रकाशित करायी।

२७. **भगवान्महावीरका जन्मस्थान "क्षत्रियकुण्ड"**— तीर्थ की प्रामाणिकता पर शोधपरक यह पुस्तक श्री अगरचन्द जी नाहटा के साथ भँवरलालजी नाहटा ने लिखी व महेन्द्र सिंघी द्वारा वीर निर्वाण संवत् २५०० में यह प्रकाशित हुई।

२८. **श्रीगौतमस्वामीका जन्मस्थान 'कुण्डलपुर' (नालन्दा)**— जैन पुरातत्त्व/साहित्य व प्रमाण पुरस्सर तीर्थभूमि नालन्दा पर सचित्र पुस्तक का लेखन भँवरलालजी नाहटा ने किया व महेन्द्र सिंघी ने वीर निर्वाण संवत् २५०१ में इसे प्रकाशित किया।

२९. **वाराणसी-जैनतीर्थ**— उत्तर प्रदेश की धर्मभूमि वाराणसी पर प्रस्तुत पुस्तक भँवरलालजी नाहटा द्वारा लिखित १७ पृष्ठीय कृति है, जो वीर निर्वाण संवत् २५०२ में प्रकाशित हुई।

३०. **काम्पिल्यपुरतीर्थ**— १३वें तीर्थङ्कर विमलनाथ भगवान् की कल्याणक भूमि काम्पिल्य पांचाल देश की राजधानी पर एक जैन शोधार्थी की एक नजर की प्रतिबिम्बरूपी इस पुस्तक में धर्म/पुरातत्त्व, जैन विभूतियों की तपोभूमि व विचरणभूमि पर विस्तृत प्रकाश लेखक भँवरलालजी नाहटा ने डाला है। यह कृति श्री जैन श्वेताम्बर महासभा (हस्तिनापुर) उत्तर प्रदेश द्वारा प्रकाशित है।

३१. **महातीर्थश्रावस्ती**— तीर्थङ्कर भगवान् सम्भवनाथ की चार कल्याणक भूमि और गौतम बुद्ध की तपस्यास्थली सावत्थी (बहराइच-बलरामपुर से १५ किलोमीटर दूर) जैन तीर्थ पर ४० पृष्ठों में भँवरलालजी नाहटा द्वारा लिखित यह ग्रन्थ पंचाल शोध संस्थान द्वारा १९८७ ई०/विक्रम संवत् २०४४ में प्रकाशित है।

३२. **विचाररत्नसार**— प्रस्तुत ग्रन्थ उपाध्याय देवचन्द्र की लेखनी की देन है। आचार्य हरिभद्र अपने युग के मूर्धन्य जैन साहित्यकार हुए। उनके परवर्तीकाल में हुए जैन साहित्यकारों की त्रिमूर्ति जैन/जैनतर-साहित्य एवं समाज में भी सुप्रतिष्ठित हैं— आनन्दघन, यशोविजय के साथ उपाध्याय देवचन्द्र। उनका साहित्य आध्यात्मिक, आस्थाप्लावित, व्यवस्थामूलक और नैतिक पृष्ठभूमि से प्रतिष्ठित है। गद्य एवं पद्य- दोनों ही रूपों में निबद्ध कृतियाँ गूह्यतम सत््यों को उद्घाटित करने का उद्देश्य लिए लक्षित होती हैं। उक्त ग्रन्थ को राष्ट्रभाषा हिन्दी में सर्वसाधारण के लिए लाभदायक बनाने के

उद्देश्य से भँवरलालजी नाहटा ने अनूदित किया है।

३३. श्रीसहजानन्दधनपत्रावली— योगीन्द्र युगप्रधान गुरुदेव श्री सहजानन्दधनजी म०सा० द्वारा पूज्य साधु-साध्वीजी तथा भक्तों को दिये गये हजारों पत्रों में से ७०६ महत्त्वपूर्ण पत्र संकलित कर भँवरलालजी नाहटा ने सम्पादित की है। श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, रत्नकूट, हम्पी (कर्नाटक) द्वारा १९८५ ई० में यह प्रकाशित हुई है।

३४. क्षणिकाएँ— १५० गद्य क्षणिकाओं की आकृति में यह छोटी पुस्तक १९८४ ई० की हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कृति से पुरस्कृत है। इसमें भारतवर्ष की सबसे बड़ी संख्या में उपलब्ध गद्य गीत जिनमें मात्र कल्पना की उड़ान नहीं, शाश्वत सत्य और तथ्य का समायोजन है। भँवरलालजी नाहटा की एकमात्र क्षणिकाकृति अनुज पुत्र अशोक नाहटा के अल्पायु में स्वर्गस्थ होने पर उसे समर्पित, श्री छगनलाल शास्त्री द्वारा समीक्षित और नाहटा ग्रुप ऑफ ट्रेडर्स लिमिटेड द्वारा प्रकाशित है।

३५. बम्बईचिन्तामणिपार्श्वनाथादिस्तवनपदसंग्रह— खरतरगच्छीय वाचक श्रीअमरसिन्धुरजी द्वारा रचित १२ पाठों में संकलित भजनों की मञ्जूषा अगरचन्द्र भँवरलाल नाहटा द्वारा सम्पादित, सं० २०१४ में श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ मन्दिर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित और १६२ पृष्ठों में समाहित है। प्रस्तावना में जैन/जैनेतर दर्शनों में मोक्षमार्ग के साधनों पर प्रकाश डाला गया है।

३६. श्रीमद्देवचन्द्रस्तवनावली— श्रीमद्देवचन्द्रजी द्वारा रचित स्तवनों का संकलन श्री अगरचन्द्र भँवरलाल नाहटा द्वारा सम्पादित श्रीमद्देवचन्द्र ग्रन्थमाला, ४ जगमोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता द्वारा सं० २०१२ में प्रकाशित है।

३७. श्रीजैनश्वेताम्बरपंचायतीमन्दिर, कलकत्ता सार्द्धशताब्दीमहोत्सव स्मृतिग्रन्थ (सं० १९७१ से २०२१)— इस ग्रन्थ में बड़े जैन श्वेताम्बर मन्दिर व दादाबाड़ी के साथ कलकत्ते के अन्य मन्दिरों का भी सचित्र इतिहास है और १२ ऐतिहासिक लेख भी हैं। इसका सम्पादन भँवरलालजी नाहटा ने किया है।

३८. मणिधारीश्रीजिनचन्द्रसूरिअष्टमशताब्दीस्मृतिग्रन्थ— अगरचन्द्र भँवरलालजी नाहटा द्वारा सम्पादित, मणिधारी श्रीजिनचन्द्रसूरिअष्टम शताब्दी समारोह समिति ५३, रामनगर, नई दिल्ली-५५ द्वारा प्रकाशित (सन् १९७१/वीर सं० २४-५७) ग्रन्थ की सारगर्भित प्रस्तावना “नाहटा बन्धु” ने ही लिखी है। दो खण्डों में विभक्त इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में ४३ लेख हैं, द्वितीय खण्ड में खरतरगच्छीयसाहित्यसूची इन्हीं की संकलित व महोपाध्याय विनयसागर जी द्वारा सम्पादित है।

३९. महातीर्थअहिच्छत्रा— भगवान् पार्श्वनाथ पर कमठ के जीव मेघमाली द्वारा

किये गये उपसर्ग पर धरणेन्द्र एवं पद्मावती द्वारा सहस्रफण धारण कर भगवान् की भक्ति कर उपसर्ग से रक्षा की गयी, वही स्थान अहिच्छत्रा कहलाया। उस स्थान का इतिहास भँवरलालजी नाहटा ने लिखा तथा पाञ्चाल शोध संस्थान ५२/१६ शक्करपट्टी, कानपुर से यह प्रकाशित हुआ।

४०. खरतरगच्छ के प्रतिबोधित गोत्र और जातियाँ— खरतरगच्छाचार्यों द्वारा प्रतिबोध देकर समय-समय पर अनेक जातियों को सम्यक् मार्ग पर आरूढ़ किया गया। नाहटाद्वय के इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्रीजिनदत्तसूरि सेवा संघ, ४ मीर बोहारघाट स्ट्रीट, कोलकाता-७ से सं० २०३० में हुआ।

उपरोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त छोटी-बड़ी अन्य कृतियाँ भी हैं जिनका नामोल्लेख करके हमें इस लेख को विराम देना चाहिये—

४१. राजगृह, ४२. जोगीपहाड़ी और पूर्व भारत के जैन तीर्थ व मन्दिर, ४३. उदारता अपनाइये, ४६. दीवानसाहब सर सिरेमलजी बाफना, ४७. विनयचन्द्रकृति कुसुमाञ्जलि, ४८. जीवदयाप्रकरणकाव्यत्रयो, ४९. सहजानन्दसंकीर्तन, ५०. महातीर्थ पावापुरी, ५१. श्रीजिनदत्तसूरि सेवा संघ स्मारिका (अमरावती), ५२. श्रीजिनदत्तसूरि सेवा संघ स्मारिका (बिलाडा), ५३. रत्नपरीक्षादिसप्तग्रन्थसंग्रह, ५४. चम्पापुरी, ५५. जैन कथा संचय, भाग-१, २, ५६. ज्ञानसार ग्रन्थावली, ५७. सहजानन्द सुधा, ५८. युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरिचरित्र, ५९. चार प्रत्येक बुद्ध, ६०. निहववाद, ६१. जैसलमेर के कलापूर्ण जैन मन्दिर, ६२. अनुभूति की आवाज, ६३. आत्मसिद्धि, ६४. आत्मद्रष्टा मातुश्री धनदेवीजी, ६५. शाम्बप्रद्युम्नकथा, ६६. खरतरगच्छ दीक्षा नन्दी सूची, ६७. खरतरगच्छ का इतिहास, ६८. कान्हड़ कठियारा की चौपाई, ६९. थावच्चापुत्र ऋषिचौपाई, ७०. ढोलामारूरा दूहा (अ.प्र.), ७१. सागर सेठ चौपाई (अ.प्र.), ७२. मन्त्रीश्वर कर्मचन्द्रवंश का इतिहास (अ.प्र.), ७३. आगरे के लोढ़ों का सम्मत्तशिखर संघ वर्णन (अ.प्र.), ७४. विज्ञप्तिपत्रसंग्रह (अ.प्र.), ७५. महातीर्थ सम्मत्तशिखर (अ.प्र.), ७६. सप्तस्मरण आदि हिन्दी पद्यानुवाद (अ.प्र.), ७७. छाजेड़ गोत्र का इतिहास (अ.प्र.), ७८. अष्टापद का इतिहास (अ.प्र.)

उपरोक्त ग्रन्थों के लेखन/सम्पादन के अलावा आपके लगभग सहस्राधिक लेख अगरचन्द्रजी नाहटा के साथ तथा स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित हो चुके हैं। अपने आप में एक-एक लेख महाप्रबन्ध हैं। ये लेख लगभग ४०० विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।



डॉ० सागरमल जैन द्वारा गुणस्थान-सिद्धान्त के विकास क्रम की गवेषणा

डॉ० धर्मचन्द जैन*

सम्प्रति जैनविद्या के अग्रगण्य विद्वान् डॉ० सागरमल जैन ने जैनधर्म-दर्शन, भाषा, संस्कृति, कला, इतिहास आदि सभी आयामों पर अपनी गवेषणापूर्ण लेखनी चलायी है। डॉ० जैन के लेखों एवं कृतियों में उनका गहन अध्ययन, मनन, मौलिक सूझ एवं प्रमाणोपेत तर्क सर्वत्र झलकते हैं। प्रस्तुत लेख में उनकी कृति 'गुणस्थान-सिद्धान्त : एक विश्लेषण' पर विचार किया जायेगा।

पूर्ण गवेषणापूर्वक लिखी गयी इस कृति में ९ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में गुणस्थान-सिद्धान्त के उद्भव एवं विकास की सारभूत चर्चा है। द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ अध्यायों में क्रमशः **तत्त्वार्थसूत्र**, श्वेताम्बर-साहित्य एवं दिगम्बर-साहित्य में गुणस्थान-सिद्धान्त के बीजों का अन्वेषण एवं विश्लेषण किया गया है। ये चारों अध्याय लेखक के विगत चार-पाँच वर्षों के शोध प्रयत्नों का परिणाम है। पञ्चम अध्याय में जैन दर्शन में आध्यात्मिक विकास पर प्रकाश डाला गया है। षष्ठ अध्याय में उनके स्वरूप पर विचार करते हुए समीक्षा की गयी है। सप्तम अध्याय लेखक ने नया लिखा है जिसमें कर्म-सिद्धान्त के विभिन्न पक्षों का गुणस्थान-सिद्धान्त के साथ अत्यन्त निकट का सम्बन्ध बताते हुए कहा गया है कि जैन कर्म-सिद्धान्त को समझे बिना गुणस्थान-सिद्धान्त को तथा गुणस्थान-सिद्धान्त को समझे बिना कर्म-सिद्धान्त को नहीं जाना जा सकता।^१ इस अध्याय में कर्मों के बन्ध, उदय, उदीरणा एवं सत्ता का विवेचन भी गुणस्थानों के आधार पर किया गया है। अष्टम अध्याय में गुणस्थान-सिद्धान्त की अवधारणाओं की बौद्ध, आजीवक, गीता, योगवाशिष्ठ, योगदर्शन आदि दर्शनों में प्रतिपादित आध्यात्मिक विकास-क्रम से तुलना की गयी है। नवम अध्याय में गति, इन्द्रिय आदि १४ मार्गणाओं का विवेचन गुणस्थानों के आधार पर किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ गुणस्थान-सिद्धान्त के उद्भव एवं विकास से लेकर उसके विभिन्न आयामों का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है।

प्रस्तुत कृति की उपयोगिता असन्दिग्ध है, क्योंकि इसमें गुणस्थान-सिद्धान्त का संक्षेप में सर्वाङ्ग विवेचन उपलब्ध है। इस दृष्टि से अध्याय सात एवं आठ विशेष उल्लेखनीय हैं।

*. एसोशिएट प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर(राज.)

डॉ० जैन की नयी स्थापना प्रथम चार अध्यायों में केन्द्रित है, अतः प्रस्तुत लेख में इन्हीं अध्यायों पर विशेष विचार किया जायेगा। इन चार अध्यायों में डॉ० सागरमल जैन ने आध्यात्मिक विकास की विभिन्न स्थितियों को चित्रित करने वाले गुणस्थान-सिद्धान्त के उद्भव एवं विकास का शोधपरक विश्लेषण किया है।

गुणस्थान-सिद्धान्त आज जैनधर्म में अत्यन्त प्रतिष्ठित सिद्धान्त है। कर्मों के बन्ध, उदय, उदीरणा एवं सत्ता का विवेचन गुणस्थानों के आधार पर किया जाता है। किस जीव के किस गुणस्थान में कितनी कर्म-प्रकृतियों का बन्ध, उदय आदि होता है इसे प्रतिपादित करने वाले ग्रन्थों का पृथक् से निर्माण भी हुआ है। षट्खण्डागम, कर्मप्रकृति, कर्म-ग्रन्थ, पञ्चसंग्रह आदि ग्रन्थ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। यही नहीं गुणस्थानों के आधार पर लघुदण्डक, महादण्डक आदि स्तोत्र ग्रन्थों का भी निर्माण हुआ है। जैन कर्म-सिद्धान्त का सूक्ष्म विवेचन गुणस्थान-सिद्धान्त को आधार बनाकर चलता है। जैनधर्म के ऐसे प्रमुख सिद्धान्त के उद्भव एवं विकास की चर्चा करना उनके विशुद्ध शैक्षिक एवं गवेषणापूर्ण अध्ययन की रुचि एवं उसके प्रस्तुतीकरण के प्रति उत्कट साहस को अभिव्यक्त करता है।

जैनधर्म में आत्मा के आध्यात्मिक-विकास की स्थितियों को गुणस्थान कहा गया है। गुणस्थानों की संख्या १४ मान्य है। वे १४ गुणस्थान इस प्रकार हैं—

१. मिथ्यात्व, २. सास्वादन, ३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र), ४. सम्यक्त्व,
५. देशविरत, ६. प्रमत्तसंयत, ७. अप्रमत्तसंयत, ८. निवृत्तिबादर, ९. अनिवृत्तिबादर,
१०. सूक्ष्मसम्पराय, ११. उपशान्तमोह, १२. क्षीणमोह, १३. संयोगीकेवली और
१४. अयोगी केवली।

डॉ० सागरमल जैन ने अपनी शोध-कृति में यह प्रतिपादित किया है कि जैनधर्म में इन १४ गुणस्थानों की अवधारणा धीरे-धीरे विकसित हुई है।

डॉ० जैन का मन्तव्य है कि गुणस्थान-सिद्धान्त की सुव्यवस्थित अवधारणा चौथी और पाँचवीं शती ईस्वी के मध्य निर्मित हुई है। इस मन्तव्य का आधार भी जैन-ग्रन्थ ही हैं, जिनमें गुणस्थान-सिद्धान्त का क्रमिक विकास दिखायी पड़ता है। डॉ० जैन ने अपना यह मन्तव्य दिगम्बर, श्वेताम्बर एवं यापनीय सम्प्रदाय के मान्य ग्रन्थों एवं तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर निर्धारित किया है। यही नहीं उन्होंने गुणस्थान-सिद्धान्त के उल्लेख-अनुल्लेख के आधार पर अनेक जैन-ग्रन्थों का पौर्वापर्य भी सिद्ध किया है। डॉ० सागरमल जैन का यह मौलिक विश्लेषण है कि गुणस्थान-सिद्धान्त एवं १४ गुणस्थानों की अवधारणा शनैः शनैः विकसित हुई है। डॉ० जैन ने अपने मन्तव्य हेतु निम्नांकित प्रमुख तर्क दिये हैं—

१. आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, दशवैकालिक, भगवती आदि प्राचीन स्तर के आगमों में गुणस्थान की अवधारणा का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। श्वेताम्बर-परम्परा में सर्वप्रथम समवायाङ्ग में जीवस्थान के नाम से १४

गुणस्थानों का उल्लेख हुआ है।^२

२. **समवायाङ्ग** के पश्चात् श्वेताम्बर-परम्परा में गुणस्थानों के १४ नामों का उल्लेख **आवश्यकनिर्युक्ति** में प्राप्त होता है;^३ किन्तु यहाँ पर इनकी गणना १४ भूतग्रामों का वर्णन करते समय गुणस्थान शब्द का उल्लेख किये बिना ही की गयी है; किन्तु डॉ० सागरमल जैन ने इन्हें **आवश्यकनिर्युक्ति** में प्रक्षिप्त माना है, क्योंकि हरिभद्रसूरि (८वीं शती) ने **आवश्यकनिर्युक्ति** की टीका में 'अधुनामुनैव गुणस्थानद्वारेण दर्शयन्नाह संग्रहणिकार' कहकर इन गाथाओं को उद्धृत किया है। निर्युक्तियों के गाथाक्रम में भी इन गाथाओं की गणना नहीं की जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि निर्युक्ति में ये गाथाएँ **संग्रहणीसूत्र** से प्रक्षिप्त की गयी हैं।
३. प्राचीन प्रकीर्णकों में भी गुणस्थान की अवधारणा का अभाव है।
४. श्वेताम्बर-परम्परा में इन १४ अवस्थाओं के लिये गुणस्थान शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग **आवश्यकचूर्णि** (७वीं शती) में मिलता है। जिनदासगणि ने इसका तीन पृष्ठों में विवरण दिया है।^४ **तत्त्वार्थभाष्य** पर सिद्धसेनगणि की वृत्ति^५ एवं हरिभद्रसूरि की **तत्त्वार्थसूत्र** की टीका^६ में भी इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन हुआ है।
५. दिगम्बर-परम्परा में **कसायपाहुड** को छोड़कर **षड्खण्डागम**,^७ **मूलाचार**,^८ **भगवती आराधना**^९ और कुन्दकुन्द के **समयसार**, **नियमसार** जैसे अध्यात्मप्रधान ग्रन्थों में तथा **तत्त्वार्थसूत्र** की **सर्वार्थसिद्धि**,^{१०} **राजवार्तिक**,^{११} **श्लोकवार्तिक**^{१२} आदि टीकाओं में गुणस्थान-सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन हुआ है। **षड्खण्डागम** के प्रारम्भिक अंश को छोड़कर सभी उपर्युक्त ग्रन्थों में गुणस्थान शब्द का प्रयोग हुआ है। **षड्खण्डागम** में प्रारम्भ में इन्हें **जीवसमास** कहा गया है।

उपर्युक्त मन्तव्यों का विश्लेषण करते हुए डॉ० जैन ने गुणस्थान-सिद्धान्त के बीजों की चर्चा करते हुए **तत्त्वार्थसूत्र**, **कसायपाहुड**, **कार्तिकियानुप्रेक्षा**, **आचाराङ्गनिर्युक्ति** आदि पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया है। डॉ० जैन के द्वारा प्रदर्शित कुछ तथ्य इस प्रकार हैं—

१. **तत्त्वार्थसूत्र** (द्वितीय-तृतीय शती ई०) जैनधर्म की प्रमुख मान्यताओं का प्रतिपादक ग्रन्थ है; किन्तु उसमें गुणस्थान-सिद्धान्त का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। यही नहीं **तत्त्वार्थभाष्य** में भी इस सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इससे फलित होता है कि **तत्त्वार्थसूत्र** एवं उसके भाष्य का निर्माण होने तक गुणस्थान-सिद्धान्त की अवधारणा अस्तित्व में नहीं आयी थी।

डॉ० जैन ने गुणस्थान-सिद्धान्त के बीजों की चर्चा करते हुए उन्हें **तत्त्वार्थसूत्र** में भी स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि **तत्त्वार्थसूत्र** में कर्म-निर्जरा के प्रसंग में सम्यग्दृष्टि

श्रावक, विरत अनन्त वियोजक, दर्शन मोह क्षपक (चारित्र मोह), उपशमक उपशान्त (चारित्र) मोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन ऐसी दश क्रमशः विकासमान स्थितियों का चित्रण हुआ है, ^{१३} जिनमें मिथ्यादृष्टि, सास्वादन, सम्यक् मिथ्यादृष्टि (मिश्र) और अयोगी केवली को छोड़कर १० गुणस्थानों के नाम प्रकारान्तर से मिल जाते हैं। इसी प्रकार **तत्त्वार्थसूत्र** के नवम अध्याय के परीषह-प्रसंग में बादर-सम्पराय, सूक्ष्म-सम्पराय, छद्मस्थ वीतराग एवं जिन अवस्थाओं का उल्लेख हुआ है ^{१४} तथा ध्यान प्रसंग में अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और केवली शब्दों का प्रयोग हुआ है; ^{१५} किन्तु गुणस्थान का एवं उसके व्यवस्थित स्वरूप का निरूपण **तत्त्वार्थसूत्र** में प्राप्त नहीं होता है। डॉ० सागरमल जैन ने अपनी पुस्तक में यह बात भी कही है कि **तत्त्वार्थसूत्र** में आध्यात्मिक विकास का जो क्रम है उसकी गुणस्थान-सिद्धान्त से भिन्नता है। गुणस्थान-सिद्धान्त में यह माना जाता है कि उपशमश्रेणी वाला जीव क्रमशः आठवें, नवें एवं दशवें गुणस्थान से होकर ग्यारहवें गुणस्थान में जाता है और क्षपक श्रेणी वाला जीव आठवें, नवें एवं दशवें गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान में प्रवेश कर जाता है जबकि उमास्वाति यह मानते हुए प्रतीत होते हैं कि चाहे दर्शनमोह के उपशम और क्षय का प्रश्न हो या चारित्रमोह के उपशम या क्षय का प्रश्न हो, पहले उपशम होता है और फिर क्षय होता है। डॉ० सागरमल जैन इस सम्बन्ध में अपना मन्तव्य देते हुए लिखते हैं— उमास्वाति के समक्ष कर्मों के उपशम और क्षय की अवधारणा तो उपस्थित रही होगी; किन्तु चारित्रमोह की विशुद्धि के प्रसंग में उपशमश्रेणी और क्षायिक श्रेणी से अलग-अलग आरोहण की अवधारणा विकसित नहीं हो पायी होगी। इसी प्रकार उपशम श्रेणी से किये गये आध्यात्मिक विकास से पुनः पतन के बीच की अवस्थाओं की कल्पना भी नहीं रही होगी। ^{१६}

२. दिगम्बर ग्रन्थ **कसायपाहुड** को वे गुणस्थान-सिद्धान्त की दृष्टि से **तत्त्वार्थसूत्र** के समकालीन मानते हैं। कसायपाहुड में भी न तो गुणस्थान शब्द का प्रयोग हुआ है और न ही गुणस्थान सम्बन्धी १४ अवस्थाओं का सुव्यवस्थित निरूपण हुआ है। **कसायपाहुड** में गुणस्थान से सम्बद्ध ये पारिभाषित शब्द प्रयुक्त हुए हैं— मिथ्यादृष्टि, सम्यक् मिथ्यादृष्टि (मिश्र), अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत/विरताविरत (संयमासंयम), विरतसंयत, उपशान्तकषाय, क्षीणमोह ^{१७} आदि। **कसायपाहुड** एवं **तत्त्वार्थसूत्र** की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि **तत्त्वार्थसूत्र** में सम्यक् मिथ्यादृष्टि की अवधारणा अनुपस्थित है जबकि **कसायपाहुड** में इस पर विस्तृत चर्चा उपलब्ध है। **तत्त्वार्थसूत्र** में जो अनन्तवियोजक की अवधारणा का प्रयोग हुआ है वह कसायपाहुड में प्राप्त नहीं होता। उसके स्थान पर उसमें दर्शनमोह उपशमक की अवधारणा पायी जाती है। **कसायपाहुड** में एक अन्य विशेष अवस्था सूक्ष्म-सम्पराय का नाम आया है।

उपशान्त मोह एवं क्षीणमोह के बीच दोनों में क्षपक की उपस्थिति मानी गयी है; किन्तु गुणस्थान-सिद्धान्त में ऐसी कोई अवस्था नहीं है। इससे डॉ० सागरमल जैन इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि **कसायपाहुड** और **तत्त्वार्थसूत्र** में कर्म-विशुद्धि की अवस्थाओं के प्रश्न पर बहुत अधिक समानता है। मात्र मिश्र (सम्यक् मिथ्यादृष्टि) और सूक्ष्म सम्पराय की उपस्थिति के आधार पर उसको तत्त्वार्थ की अपेक्षा किञ्चित् विकसित माना जा सकता है। दोनों की शब्दावली क्रम और नामों की एकरूपता से यही प्रतिफलित होता है कि दोनों एक ही काल की रचनाएँ हैं।^{१८}

३. श्वेताम्बर-साहित्य में गुणस्थान-सिद्धान्त के बीजों की खोज करते हुए डॉ० सागरमल जैन ने प्रतिपादित किया है कि **आचाराङ्गनिर्युक्ति** के सम्यक्त्व पराक्रम अध्याय की निर्युक्ति में **तत्त्वार्थसूत्र** में प्रतिपादित आध्यात्मिक विकास की दस अवस्थाओं की चर्चा प्राप्त होती है जिसमें सम्यक्त्वोत्पत्ति श्रावक विरत, अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्त, क्षपक, क्षीणमोह और जिन इस दस अवस्थाओं का उल्लेख हुआ है।^{१९} **आचाराङ्गनिर्युक्ति** कौन से भद्रबाहु की रचना है, इस पर भी डॉ० सागरमल जैन ने विस्तार से विचार किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आर्यशिवभूति के शिष्य आर्यभद्र द्वारा ई० द्वितीय-तृतीय शताब्दी में निर्युक्तियों की रचना की गयी है।^{२०} डॉ० जैन ने यह संकेत दिया है कि **आचाराङ्गनिर्युक्ति** में आध्यात्मिक विकास या गुणश्रेणियों की दस अवस्थाओं की चर्चा उसी प्रकार प्रक्षिप्त है जिस प्रकार **षट्खण्डागम** के वेदनाखण्ड की चूलिका में इन्हें अवतरित किया गया है। डॉ० जैन कहते हैं— ऐसा प्रतीत होता है कि ये गाथाएँ **धवला टीका** और **गोम्मतसार** में भी अवतरित की गयी हैं। इसी प्रकार ये गाथाएँ निर्युक्तियों, कर्मग्रन्थों तथा पञ्चसंग्रह में भी अवतरित की जाती रही हैं। निर्युक्तियों के पश्चात् श्वेताम्बर-परम्परा में ये गाथाएँ कुछ पाठभेद के साथ शिवशर्मसूरि प्रणीत **कर्मप्रकृति** में उपलब्ध होती हैं।^{२१} डॉ० जैन का मन्तव्य है कि **आवश्यकनिर्युक्ति** की प्रतिक्रमण निर्युक्ति में गाथा संख्या १२८७ के पश्चात् की दो गाथाएँ प्रक्षिप्त हैं। जैसाकि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि हरिभद्रसूरि ने **आवश्यकनिर्युक्ति** पर टीका करते हुए उन्हें निर्युक्ति गाथा के रूप में स्वीकार नहीं किया है अपितु इन्हें किसी संग्रहणी गाथा के रूप में उद्धृत किया है। अतः यह सुस्पष्ट है कि निर्युक्ति साहित्य में १४ गुणस्थानों की अवधारणा अनुपलब्ध है। निर्युक्तियों में **तत्त्वार्थसूत्र** के समान ही दस गुण श्रेणियों की चर्चा है। शिवशर्म द्वारा रचित **कर्म-प्रकृति** में भी ये गाथाएँ ली गयी हैं। इतनी विशेषता अवश्य है कि 'जिणे य दुविहे' कह कर सयोगी और अयोगी इन दो प्रकारों की अवधारणा आयी है। शिवशर्मसूरि की **कर्म-प्रकृति** के पश्चात् चन्द्रऋषिकृत **पञ्चसंग्रह** के बन्ध द्वार के उदय निरूपण में कुछ पाठभेद के साथ यह अवधारणा प्राप्त होती है।

श्वेताम्बर-परम्परा में ११ गुणश्रेणियों का अन्तिम उल्लेख देवेन्द्रसूरि विरचित शतक नामक पञ्चम कर्मग्रन्थ में प्राप्त होता है।^{२२}

४. दिगम्बर-साहित्य में गुणस्थान-सिद्धान्त के बीजों की गवेषणा करते हुए उन्होंने कार्तिकियानुप्रेक्षा एवं षट्खण्डागम पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। डॉ० सागरमल जैन ने स्पष्ट किया है कि कार्तिकियानुप्रेक्षा में भी गुणस्थान-सिद्धान्त की चर्चा नहीं है और न उपशमश्रेणी और क्षायिकश्रेणी के अलग-अलग विकास की बात कही गयी है। गुणस्थान-सिद्धान्त के अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण आदि जो विशिष्ट नाम हैं उनका भी कार्तिकियानुप्रेक्षा में कोई उल्लेख नहीं है; किन्तु जिस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान की अवधारणा का अभाव होते हुए भी कर्म निर्जरा के आधार पर सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत आदि दस अवस्थाओं का चित्रण है उसी प्रकार कार्तिकियानुप्रेक्षा में भी निर्जरानुप्रेक्षा के अन्तर्गत कर्मनिर्जरा के आधार पर बारह अवस्थाओं का चित्रण हुआ है। ये अवस्थाएँ इस प्रकार हैं^{२३}—

१. मिथ्यात्वी, २. सम्यक्दृष्टि (दृष्टि), ३. अणुव्रतधारी, ४. महाव्रती, ५. प्रथम-कषायचतुष्क वियोजक, ६. क्षपकशील, ७. दर्शनमोहत्रिक (क्षीण), ८. कषायचतुष्क उपशमक, ९. क्षपक, १०. क्षीणमोह ११. सयोगीनाथ और १२. अयोगीनाथ।

तत्त्वार्थसूत्र और आचाराङ्गनिर्युक्ति में प्राप्त होने वाले दस नामों के अतिरिक्त जो दो नाम कार्तिकियानुप्रेक्षा में अधिक प्राप्त हैं, वे हैं— मिथ्यादृष्टि और अयोगीकेवली। डॉ० सागरमल जैन का कथन है कि इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ आचाराङ्गनिर्युक्ति और तत्त्वार्थसूत्र के पश्चात् का है। कार्तिकियानुप्रेक्षा और कुन्दकुन्द की द्वादशानुप्रेक्षा का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए डॉ० सागरमल जैन ने कार्तिकियानुप्रेक्षा को प्राचीन माना है।^{२४}

षट्खण्डागम में गुणस्थान-सिद्धान्त पूर्णतः विकसित रूप में प्राप्त होता है। इसका सत्प्ररूपणाखण्ड १४ गुणस्थानों की विस्तृत विवेचना करता है। यह अवश्य है कि इसमें गुणस्थान शब्द के स्थान पर जीवसमास शब्द ही प्रयुक्त हुआ है।

डॉ० सागरमल जैन का मन्तव्य है कि षट्खण्डागम गुणस्थान-सिद्धान्त का एक विकसित ग्रन्थ है। षट्खण्डागम में विकसित गुणस्थान-सिद्धान्त के साथ-साथ वे बीज भी उपस्थित हैं जिनसे गुणस्थान की अवधारणा विकसित हुई है। षट्खण्डागम की चूलिका में जो दो गाथाएँ उद्धृत हैं^{२५} वे आचाराङ्गनिर्युक्ति में से ली गयी प्रतीत होती हैं। गुणस्थान-सिद्धान्त के इन मूल बीजों को संगृहीत करने की यह प्रवृत्ति दिगम्बर-परम्परा में आगे गोम्मटसार के काल तक चलती रही है। षट्खण्डागम की मूलगाथा की अपेक्षा व्याख्यासूत्रों में विकास और अर्थ की स्पष्टता है।

गुणस्थान-सिद्धान्त के निर्माण के सम्बन्ध में डॉ० सागरमल जैन कहते हैं कि षट्खण्डागम के व्याख्यासूत्रों के ग्यारह स्थानों में मिथ्यात्व, सास्वादन और मिश्र ये तीन स्थान और जुड़ कर १४ गुणस्थानों का निर्माण हुआ है। उनका स्पष्ट मन्तव्य है कि गुणस्थान-सिद्धान्त की अवधारणाओं का विकास कर्म-निर्जरा के प्रसंग में प्रतिपादित अवस्थाएँ या गुणश्रेणियाँ ही रही हैं।^{२६}

गुणस्थान-सिद्धान्त के उल्लेख-अनुल्लेख अथवा इसके बीजों की प्राप्ति के आधार पर डॉ० सागरमल जैन ने कुछ ग्रन्थों का पौर्वापर्य सिद्ध किया है, जो इस प्रकार हैं—

१. तत्त्वार्थसूत्र एवं उसके भाष्य के रचयिता (उमास्वाति) एक ही हैं।
२. आचाराङ्गनिर्युक्ति सम्भवतः तत्त्वार्थसूत्र के पहले रची गयी हो।
३. कसायपाहुडसुत्त तत्त्वार्थसूत्र का समकालीन है या किञ्चित् परवर्ती है।
४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा कसायपाहुड के पश्चात् एवं आचार्य कुन्दकुन्द की द्वादशानुप्रेक्षा के पूर्व की रचना है।
५. षट्खण्डागम, भगवती आराधना एवं मूलाचार की रचना तत्त्वार्थसूत्र के बाद हुई।
६. तत्त्वार्थसूत्र एवं उसका भाष्य तीसरी-चौथी शती में निर्मित है तो समवायाङ्ग का गुणस्थान सम्बन्धी विवरण एवं षट्खण्डागम पाँचवीं शती के हैं तथा तत्त्वार्थसूत्र की टीकाएँ एवं भगवतीआराधना, मूलाचार, समयसार, नियमसार आदि ग्रन्थ (जो गुणस्थान का विवरण देते हैं) छठी शती या उसके पश्चात् के हैं।

डॉ० जैन ने यह समय तत्त्वार्थसूत्र को तीसरी-चौथी ई० का मानकर निर्धारित किया है। यदि तत्त्वार्थसूत्र को द्वितीय-तृतीय शती की रचना मानें तो गुणस्थान का उल्लेख करने वाली रचनाओं को पाँचवीं शती या उसके पश्चात् की माना जा सकता है।

गुणस्थान-सिद्धान्त पर डॉ० सागरमल जैन ने जो विश्लेषणात्मक एवं शोधपरक विचार किया है यह जैन विचारकों के लिये चिन्तन की नयी दिशा प्रदान करता है। डॉ० जैन की इस कृति को पढ़ने के पश्चात् जो विचार मेरे मन में उठे हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. भगवान् महावीर ने अर्थरूप में जो उपदेश दिया था और शब्द रूप में जो गणधरों द्वारा गूँथा गया था उसके विशृङ्खलित हो जाने के कारण अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुईं, उनमें से एक समस्या आध्यात्मिक विकास के विभिन्न आयामों को निरूपित करने की भी रही है। आध्यात्मिक विकास की जो अवस्थाएँ प्रारम्भिक काल में प्रतिपादित रही होंगी, उनका उल्लेख करने वाले प्राचीन ग्रन्थों के अनुपलब्ध होने से यह समस्या उत्पन्न हुई। इसके विपरीत डॉ० सागरमल जैन ने गुणस्थान-सिद्धान्त का जो तार्किक

एवं प्रमाणोपेत विश्लेषण किया है वह इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि जैनदर्शन में सिद्धान्तों के विकास की प्रक्रिया निरन्तर गतिशील रही है। उनके इस मत से मैं सहमत भी हूँ, क्योंकि ऐसा ही एक सिद्धान्त अनेकान्तवाद भी है जिसके मूल-बीज आगमों में एवं तत्त्वार्थसूत्र में उपलब्ध हैं तथापि उसका सुव्यवस्थित रूप आचार्य सिद्धसेन दिवाकर एवं आचार्य समन्तभद्र के ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होता है। फिर भी गुणस्थान-सिद्धान्त को अनेकान्त के दार्शनिक विकास की भाँति नहीं देखा जा सकता, क्योंकि इसके व्यवस्थापन का आधार प्राचीन आगम या कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धी साहित्य रहा है। **आचाराङ्गनिर्युक्ति** में प्राप्त गुणश्रेणि की गाथाओं के सम्बन्ध में ऐसा डॉ० सागरमल जी ने स्वीकार भी किया है कि निर्युक्ति में ये गाथाएँ किसी प्राचीन कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धी साहित्य से ली गयी प्रतीत होती हैं।

२. डॉ० सागरमल जी का कथन है कि गुणस्थान-सिद्धान्त पाँचवीं-छठी शती में अस्तित्व में आया। उनका यह कथन गुणस्थान शब्द के प्रयोग एवं उनके १४ नामों के उल्लेख के सम्बन्ध में सत्य है। यहाँ पर यह बात अवश्य कहना चाहूँगा कि 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग जीव की आध्यात्मिक अवस्थाओं को प्रकट करने की दृष्टि से परिष्कृत या परिमार्जित प्रयोग है। इसके पहले इन्हें **जीवसमास (षट्खण्डागम एवं सर्वार्थसिद्धि, १.८, पृ० २२)** अथवा **जीवस्थान (समवायाङ्गसूत्र)** कहा गया है। **जीवस्थान** या **जीवसमास** प्राचीन नाम है तथा 'गुणस्थान' नया नाम है जिसका प्रारम्भिक प्रयोग कब हुआ यह नहीं कहा जा सकता; किन्तु **तत्त्वार्थसूत्र** पर पूज्यपाद देवनन्दी की टीका **सर्वार्थसिद्धि** (लगभग छठी शती) में गुणस्थान शब्द का प्रयोग (सर्वार्थसिद्धि १.८, पृ० २२) सुपरिचित-सा प्रतीत होता है। वहाँ देवनन्दी ने **जीवसमास** एवं **गुणस्थान** को पर्यायवाची माना है।

३. **आचाराङ्गसूत्र** में 'जे गुणे से आवट्टे जे आवट्टे से गुणे' (१.१.५, सूत्र ४१) में प्रयुक्त 'गुण' शब्द का प्रयोग वैषयिक सुखों के अर्थ में हुआ है। **तत्त्वार्थसूत्र** (५.३७) एवं **उत्तराध्ययनसूत्र** में 'गुण' शब्द 'द्रव्य' के आवश्यक लक्षण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। फलतः यह जीव के चेतना गुण के लिये भी प्रयोग में आने लगा। इस प्रकार गुण+स्थान (गुणानां स्थानम्) से निष्पन्न 'गुणस्थान' शब्द चेतना की विभिन्न अवस्थाओं को चित्रित करता है।

४. **तत्त्वार्थसूत्र** में उपलब्ध सूक्ष्म सम्पराय, बादर सम्पराय, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, देशविरत आदि शब्दों तथा कर्मनिर्जरा के प्रसंग में प्राप्त सम्यग्दृष्टि आदि १० नामों से यह तो ज्ञात होता है कि आध्यात्मिक अवस्थाओं के लिये अनेक शब्द निर्धारित हो चुके थे; किन्तु गुणस्थान शब्द का प्रयोग **तत्त्वार्थसूत्र** के बाद के काल में ही हुआ है अन्यथा गुणस्थानों का निरूपण आचार्य उमास्वाति अवश्य करते। उन्होंने

डॉ० सागरमल जैन द्वारा गुणस्थान-सिद्धान्त के विकास क्रम की गवेषणा : ;

जो १० आध्यात्मिक अवस्थाएँ दी हैं वे सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के पश्चात् की ही हैं, जिनमें क्रमशः असंख्येय गुणी निर्जरा होती है। इन १० अवस्थाओं का आधार कर्मनिर्जरा है, अतः यह आवश्यक नहीं कि ये सारे ही गुणस्थानों के नाम हों।

५. उपशमश्रेणी एवं क्षपकश्रेणी में पृथक् आरोहण के सिद्धान्त का विकास किस प्रकार हुआ यह शोध का विषय है।
६. गुणस्थान-सिद्धान्त वर्तमान काल में कर्म-सिद्धान्त से ऐसा घुल-मिल गया है कि उसे पृथक् करके देख पाना कठिन हो जाता है। इन दोनों सिद्धान्तों की पारस्परिक निकटता का प्रतिपादन स्वयं डॉ० सागरमल जैन ने सप्तम अध्याय में किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुणस्थान-सिद्धान्त के व्यवस्थित रूप में अस्तित्व में आने के पश्चात् कर्म-ग्रन्थ एवं पञ्चसंग्रह ग्रन्थों के माध्यम से विपुल साहित्य का निर्माण हुआ, जो समस्त कर्म-सिद्धान्त को गुणस्थानों के आधार पर विवेचित करता है। आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की गणना **तत्त्वार्थसूत्र** में उपलब्ध है; किन्तु उनके बन्ध, उदय, उदीरण एवं सत्ता के रूप में गुणस्थानों को आधार बना कर जो वर्णन उत्तरकालीन कर्म-साहित्य एवं **षट्खण्डागम** की धवला टीका में प्राप्त होता है वह आचार्यों के द्वारा विहित प्रतीत होता है। आचार्यों ने प्राचीन मान्यताओं को आधार बनाकर गणितीय रूप में इनका वर्णन किया होगा। इसका तात्पर्य है कि गुणस्थान-सिद्धान्त के व्यवस्थित स्वरूप के स्थापित होने के पश्चात् ही कर्म-सिद्धान्त एवं उत्तरप्रकृतियों का सूक्ष्म-विवेचन प्रारम्भ हुआ होगा। अनेक थोकड़े भी आज उसी के परिणाम हैं।
७. डॉ० सागरमल जैन द्वारा किये गये विश्लेषण का एक परिणाम यह अवश्य आया है कि उन्होंने इस सिद्धान्त के उल्लेख-अनुल्लेख के आधार पर एवं उसके विकास-क्रम के आधार पर अनेक जैन ग्रन्थों का पौर्वापर्य सिद्ध कर दिया है। इससे दिगम्बर एवं श्वेताम्बर ग्रन्थों की पूर्वापरता भी स्पष्ट होती है। **तत्त्वार्थसूत्र** एवं उसके भाष्य के रचयिता भी उमास्वाति ही सिद्ध होते हैं। डॉ० जैन ने अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ जैन-ग्रन्थों का पौर्वापर्य निर्धारित किया है, जो महत्त्वपूर्ण है; किन्तु जैन अंग-आगमों में गुणस्थान शब्द का प्रयोग नहीं मिलने के कारण क्या यह माना जावे कि सारे अंग-आगम **तत्त्वार्थसूत्र** के पूर्व निर्मित हो गये थे? दूसरी बात **तत्त्वार्थसूत्र** में जिन १० अवस्थाओं का उल्लेख है वे भी अंग-आगमों में प्राप्त नहीं हैं। मैं समझता हूँ डॉ० सागरमल जैन इससे सहमत नहीं होंगे कि वर्तमान सभी आगम **तत्त्वार्थसूत्र** के पहले के ही हैं। अतः गुणस्थान शब्द के उल्लेख-अनुल्लेख के आधार मात्र से पूर्वापरता का निर्धारण पुनः चिन्तनीय है।
८. इसमें कोई सन्देह नहीं है कि डॉ० सागरमल जैन ने शोधार्थियों को एक नयी दिशा दी है। उनकी शोधदृष्टि नितान्त मौलिक है, परन्तु यहाँ यह ध्यान में रखना होगा

कि दर्शन के क्षेत्र में तो तर्क की स्वीकृति सहजरूपेण हो जाती है; किन्तु धर्म के क्षेत्र में श्रद्धा का स्थान उच्च है। अतः ये स्थापनाएँ विद्वानों के लिए तो उपयोगी हो सकती हैं किन्तु धर्म श्रद्धालुओं के लिये नहीं। उन्हें तो फिर धर्म-ग्रन्थों पर भी सन्देह होने लगेगा जो व्यावहारिक दृष्टि से पूर्णतः उचित नहीं कहा जा सकता।

सन्दर्भ-सूची

१. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण (पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, १९९६), पृ० ९७.
२. कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउदस जीवट्टाणा पण्णता, तं जहा-मिच्छादिट्ठी, सासायणसम्मदिट्ठी, सम्मामिच्छदिट्ठी।
अविरयसम्मादिट्ठी, विरयाविरए पमत्तसंजए अप्पमत्तसंजए निअट्टिबायरे अनियट्टिबायरे सुहुमसंपराए - उवसामए वा खवए वा उवसंतमोहे, खीणमोहे, सजोगी केवली, अयोगी केवली। — समवायाङ्ग (आगम प्रकाशन, व्यावर), समवाय १४.
३. मिच्छादिट्ठी सासायणे य तह सम्मामिच्छदिट्ठी य।
अविरयसम्मदिट्ठी विरयाविरए पमत्ते य।
तत्तो ये अप्पमत्तो नियट्टिअनियट्टिबायरे सुहुमे।
उवसंतखीणमोहे होइ सजोगी अजोगी य। आवश्यकनिर्युक्ति, निर्युक्ति संग्रह, पृ० १४०.
४. तत्थ इमार्तिं चोदस गुणट्टाणाणि अजोगिकेवली नाम
सेलसीपाडिवन्नओ, सो य तीहि जोगेहि मुक्को सिद्ध भवति।।
— आवश्यकचूर्णि (जिनदासगणि) उत्तर भाग, रतलाम, १९२९, पृ० १३३-१३६.
५. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (सिद्धसेनगणिकृत भाष्यानुसारिणिका समलंकृत... सं० हीरालाल रसिकलाल कापड़िया) ९.३५ की टीका.
६. श्री तत्त्वार्थसूत्रम् (टीका-हरिभद्र), ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम सं० १९९२, पृ० ४६५.
७. षट्खण्डागम (सत्त्वरूपणा) प्रका०, जैन संस्कृति रक्षक संघ, सोलापुर, पुस्तक १, द्वितीय संस्करण, सन् १९७३, पृ० १५४ से २०१.
८. मूलाचार, पृ० २७३-७९ माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला (२३) मुम्बई ई०सन् १९३०.
९. भगवती आराधना, भाग-२, (सम्पा० कैलाशचन्द्र शास्त्री), पृ० ९८०.
१०. सर्वार्थसिद्धि (भारतीय ज्ञानपीठ) सूत्र १.८ की टीका तथा ९.१२ की टीका.

डॉ० सांगरमल जैन द्वारा गुणस्थान-सिद्धान्त के विकास क्रम की गवेषणा : २३

११. राजवर्तिक, ९.१०-११.
१२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (विद्यानन्द) सूत्र १०.३, ९.३६, ९.३७, ९.३३-४४.
१३. सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपक-क्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येगुणनिर्जराः। तत्त्वार्थसूत्र, ९.४७.
१४. तत्त्वार्थसूत्र, ९.१०-१२.
१५. तत्त्वार्थसूत्र, ९.३५-४०.
१६. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण, पृ० ११.
१७. कसायपाहुड सुत्त, सं०- पं० हीरालाल जैन, वीरशासन संघ, कलकत्ता १९५५ में द्रष्टव्य—
सम्मत्त देसविरयी संजम उवसामणा च खवणा च।
दंसण-चरित्तमोहे अद्धापरिमाणिद्देसो॥१४॥
सम्मत्ते मिच्छते य मिस्सगे चेय बोद्धव्वा॥८२॥
विरदीय अविरदीए विरदाविरदे तहा अणागारे॥८३॥
दंसणमोह-उवसामगस्स परिणामो केरिसो भवे॥९१॥
दंसणमोहक्खवणापट्टवगो कम्मभूमिजादो दु॥११०॥
सुहुमे च संपराए बादररागे च बोद्धव्वा॥१२१॥
उवसामणाखणण दु पंडिवदिदो होइ सुहुमरागम्हि॥१२२॥
खीणेसु कसाएसु य सेसाणं के व होंति वीचारा॥२३२॥
संकामणमोवट्टण किट्टीखवणाए खीणमोहंते।
खवणा य आणुपुव्वी बोद्धव्वा मोहणीयस्स॥२३३॥
१८. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण, पृ० १२.
१९. सम्मत्तुपत्ती सावए य विरए अणंतकम्मसे।
दंसणमोहक्खवए उवसामंते य उवसते॥
खवए य खीणमोहे जिणे अ सेढी भवे असंखिज्जा।
तत्त्विवरीओ कालो संखिज्जगुणाइ सेढीए॥ — आचारांगनिर्युक्ति, २२-२३.
२०. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण, पृ० २३.
२१. सम्मत्तुप्या सावय विरए संजोयणाविणासे या।
दंसणमोहक्खवगे कसाय उवसामगुवसंते॥

२४ : श्रमण/जनवरी-जून २००२ संयुक्तांक

खवगे य खीणमोहे जिणे य दुविहे असंखगुणसेढी।

उदयो तव्विवरीओ कालो संखेज्जगुणसेढी॥ शिवशर्मसूरिकृत कर्म-प्रकृति
(उदयकरण) गाथा ३९४-३९५.

२२. सम्म दर (देस) सव्वविरई अणविसंजो य दंसखवगे या।

मोहसम संत खवगे, खीण सजोगियर गुणसेढी॥ — पंचमकर्मग्रन्थ, गाथा ८२.

२३. मिच्छादो सदिद्धी असंख-गुण-कम्म-णिज्जरा होदि।

तत्तो अणुवय-धारी तत्तो य महवई णाणी।

पढम-कसाय-चउण्हं विजोजओ तह य खवय-सीलो या।

दंसण-मोह-तियस्य य तत्तो उवसमग-चत्तारि।।

खवगो य खीण-मोहो सजोइ-णाहो तहा अजोईया।

एदे उवारिं उवारिं असंख-गुण-कम्म-णिज्जराया।।

कात्तिकियानुप्रेक्षा (९/१०६-१०८) स्वामीकुमार, टीका शुभचन्द्र, सं० डॉ० ए० एन०
उपाध्ये, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, आगास।

२४. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण, पृ० ३०.

२५. षट्खण्डागम, चतुर्थखण्ड (वेदना) सप्तम वेदनाविधान की चूलिका।

२६. गुणस्थान-सिद्धान्त : एक विश्लेषण, पृ० २६.



पार्श्वनाथ के सिद्धान्त : दिगम्बर-श्वेताम्बर-दृष्टि

प्रो० सुदर्शनलाल जैन*

तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के जीवन तथा उनके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में प्राचीन उल्लेख बहुत कम मिलते हैं। जैन आगमों एवं पुराणों के अनुसार जैनधर्म के तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी के राजा अश्वसेन की रानी वर्मला (वामा) देवी की कुक्षि से हुआ था।^१ इन्होंने तीस वर्ष की आयु में ही गृहत्याग करके सम्मेद-शिखर पर तपस्या की और केवलज्ञान प्राप्त किया। केवलज्ञान प्राप्त करके सत्तर वर्ष तक श्रमण धर्म का उपदेश दिया। पश्चात् ई०पूर्व ७७७ (चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर-निर्वाण ई०पूर्व ५२७ से २५० वर्ष पूर्व) में निर्वाण प्राप्त किया। इनकी ऐतिहासिकता निर्विवाद रूप से स्वीकार की जाती है। इनके विवाह के सम्बन्ध में श्वेताम्बरों की मान्यता है कि इनका विवाह हुआ जबकि दिगम्बरों की स्पष्ट धारणा है कि तीर्थङ्कर वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर ने कुमारावस्था (अविवाहितावस्था) में ही दीक्षा ली थी।^२ इनके कुलादि के सम्बन्ध में दिगम्बर इन्हें उग्रवंशीय (उरग या नागवंशीय) तथा श्वेताम्बर इक्ष्वाकुवंशीय स्वीकार करते हैं।^३ दिगम्बरों के तिलोपपण्णत्ति में तथा श्वेताम्बरों के आवश्यकनिर्युक्ति में इन्हें काश्यपगोत्रीय कहा गया है।^४

आधार-ग्रन्थ— पार्श्वनाथ की दार्शनिक एवं आचार-सम्बन्धी मान्यताओं का प्रतिपादक कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। प्राचीन श्वेताम्बर मान्य आगम-ग्रन्थों में उनके जीवन के सम्बन्ध में तथा उनके आचार एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के जो उल्लेख मिलते हैं वे अल्प ही हैं, तथापि उनके आधार पर परवर्ती काल में विशेषकर ई० सन् ८वीं शताब्दी के बाद प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश भाषा में रचे गये चरितकाव्य ग्रन्थों में पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी दी गयी है। पार्श्वनाथ से सम्बन्धित ग्रन्थों का विभाजन निम्न दृष्टि से किया जा सकता है—

(क) दिगम्बर ग्रन्थ^५— इसके अन्तर्गत मूलाचार, तिलोपपण्णत्ति एवं भगवती-आराधना ये तीन प्राचीन प्रमुख ग्रन्थ हैं। परवर्ती गुणभद्र-रचित उत्तरपुराण भी पार्श्वनाथ-विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। चरितकाव्यों में निम्न ग्यारह काव्यों का प्रमुख रूप से परिगणन किया जा सकता है—

*. प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी.

१. पार्श्वार्थ्युदयः (जिनसेनकृत, ई० ७८३), २. पार्श्वनाथचरितम् (वादिराजसूरिकृत, ई० १०१९), ३. पासनाहचरित (देवदत्तकृत, ई० सन् १०वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध, अनुपलब्ध), ४. पासनाहचरित (पद्मकीर्तिकृत, ई० १०७७), ५. पासनाहचरित (विबुधश्रीधरकृत, ई० ११३२), ६. पासनाहचरित (देवचन्द्रकृत, ई० १२वीं शताब्दी), ७. पार्श्वनाथपुराण (सकलकीर्तिकृत, ई० १४वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध), ८. पासनाहचरित (रङ्गधूकृत, ई० १४००), ९. पासनाहचरित (असपालकृत, ई० १४८२), १०. पार्श्वपुराण (वादचन्द्रकृत, ई० १६८३) और ११. पार्श्वपुराण (चन्द्रकीर्तिकृत, ई० १५९७-१६२४)।

(ख) श्वेताम्बर ग्रन्थ^६— इसके अन्तर्गत उत्तराध्ययनसूत्र, सूत्रकृताङ्ग, समवायाङ्ग, स्थानाङ्ग, भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, कल्पसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, राजप्रश्नीय और ऋषिभाषित ये दस प्राचीन प्रमुख ग्रन्थ हैं। शीलाङ्क (लगभग नवीं शताब्दी) के चउपन्नमहापुरिसचरियं तथा हेमचन्द्राचार्य के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में भी पार्श्वनाथ का जीवनवृत्त मिलता है। चरितकाव्यों में निम्न नव काव्यों का प्रमुख रूप से परिगणन किया जा सकता है— १. सिरिपासनाहचरियं (देवभद्रकृत, ई० ११११), २. पार्श्वनाथचरित्र (माणिकचन्द्रसूरिकृत, ई० १२१९), ३. पार्श्वनाथचरित्र (विनयचन्द्रकृत, ई० १२२९-१२८८), ४. पार्श्वनाथचरित्र (सर्वानन्दसूरिकृत, ई० १२३४), ५. पार्श्वनाथचरित्र (भावदेवसूरिकृत, ई० १३५५), ६. पासपुराण (तेजपालकृत, ई० १४५८), ७. पासनाहकाव्य (पद्मसुन्दरगणिकृत, ई० १६वीं शताब्दी), ८. पार्श्वनाथचरित्र (हेमविजयकृत, ई० १५७५), तथा ९. पार्श्वनाथचरित (उदयवीरगणिकृत, ई० १५९७)।

उभय परम्पराओं के प्राचीन ग्रन्थों में मात्र सूचनाएं मिलती हैं। तिलोयपण्णत्ति तथा आवश्यकनिर्युक्ति में अपेक्षाकृत कुछ अधिक जानकारी प्राप्त होती है। ८वीं शताब्दी के बाद लिखे गये चरित काव्यग्रन्थों से ही हमें वस्तुतः विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। परवर्ती चरितकाव्यों के आधारग्रन्थ यद्यपि प्राचीन ग्रन्थ ही हैं, तथापि उनसे जो अतिरिक्त जानकारी प्राप्त होती है उसका मूलस्रोत क्या है, स्पष्ट नहीं है। अतः इस आलेख में केवल प्राचीन उल्लेखों को ही आधार मानकर विवेचना की गयी है। विवेचना से यह ज्ञात होता है कि देश, काल आदि की परिस्थितियों तथा मनुष्यों की मनोवृत्तियों को ध्यान में रखकर पार्श्वनाथ और महावीर के सिद्धान्तों में जो यत्किञ्चित् बाह्यभेद दृष्टिगोचर होता है वह नगण्य है, क्योंकि उनका मूल केन्द्रबिन्दु एक ही है। पार्श्वनाथ के आचार एवं सिद्धान्तों की तीर्थङ्कर महावीर के साथ तुलना करने के पूर्व यह आवश्यक है कि प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित सन्दर्भों को समझ लिया जाये। इस सन्दर्भ में उभय परम्पराओं में जो सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, वे निम्न प्रकार हैं—

१. उत्तराध्ययनसूत्र^७— इसमें पार्श्व-परम्परानुयायी केशी मुनि तथा महावीर-परम्परानुयायी गौतम गणधर के मध्य एक संवाद आया है जिसमें बाह्य रूप से दृश्यमान मूलभूत दो अन्तरों का गौतम द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है जिससे सन्तुष्ट होकर केशी मुनि अपने ५०० अनुयायियों के साथ महावीर द्वारा प्रतिपादित पञ्चयाम धर्म को स्वीकार कर लेते हैं। यहाँ

गौतम गणधर बतलाते हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का पालन करना ही धर्म है। अन्य नियमोपनियम इसी के लिये हैं। भगवान् महावीर ने देशकाल की परिस्थितियों का विचार करके चातुर्यामधर्म को पञ्चयामधर्म में और सचेलधर्म को अचेलधर्म में परिवर्तित किया है। कारण स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ के समय मनुष्य ऋजु-जड़ (सरल परन्तु मन्दबुद्धि) थे, द्वितीय तीर्थङ्कर से तेईसवें तीर्थङ्कर के काल में ऋजुप्राज्ञ (सरल एवं बुद्धिमान्) थे, परन्तु चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर के काल में वक्रजड़ (कुटिल तथा मन्दबुद्धि) हो गये, जिससे पार्श्व के चातुर्याम को पञ्चयाम में और सचेल (सवस्त्र) को अचेल में संशोधित करना पड़ा। यह धर्म का मात्र बाह्य रूप था, क्योंकि अपरिग्रह रूप वीतरागता में स्त्री-परिग्रहत्याग तथा उपकरण-मोहत्याग गतार्थ था।

२. सूत्रकृताङ्ग— इसमें 'उदक पेढालपुत्र' नामक पार्श्वपत्य तथा महावीर के प्रधान शिष्य गौतम गणधर के मध्य वार्ता होती है, जिसमें पेढालपुत्र गौतम गणधर से प्रश्न करते हैं कि महावीर की परम्परा में श्रमणोपासकों से कष्टकर प्रत्याख्यान क्यों कराया जाता है? प्रत्याख्यान का रूप है 'राजाज्ञादि के कारण किसी गृहस्थ या चोर को बाँधने-छोड़ने के अतिरिक्त मैं किसी त्रस जीव की हिंसा नहीं करूँगा।' यहाँ पेढालपुत्र को शङ्का है कि त्रस जीव की हिंसा के त्याग का तात्पर्य क्या है? त्रस पर्यायवाले जीवों की हिंसा का प्रत्याख्यान अथवा त्रस रूप भूत-भावि-पर्यायवाले स्थावर जीवों की हिंसा का प्रत्याख्यान। गौतम गणधर यहाँ समाधान करते हैं कि वर्तमान त्रस पर्यायवाले प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान ही यहाँ अभीष्ट है। इस तरह तीर्थङ्कर पार्श्व के साथ तीर्थङ्कर महावीर का कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है। इसके अतिरिक्त इसमें महावीर के धर्म को पञ्चमहाव्रत तथा सप्रतिक्रमण धर्म कहा है।^९

३. भगवतीसूत्र^{१०}— इसमें तीन प्रसङ्ग हैं—

(क) पार्श्वपत्य गांगेय अनगर और तीर्थङ्कर महावीर के मध्य प्रश्नोत्तर होता है, जहाँ महावीर पार्श्व की तरह 'सत्' को उत्पत्ति-विनाशवाला भी सिद्ध करते हैं। शुभाशुभ कर्मानुसार चारों गतियों में जीव का परिभ्रमण बतलाते हैं। इसमें कोई प्रेरक ईश्वर तत्त्व नहीं है। गांगेय महावीर के समाधान से सन्तुष्ट हो जाता है।

(ख) पार्श्वपत्य कालाश्यवैशिक-पुत्र की भगवान् महावीर के कुछ स्थविर श्रमणों से मुख्यरूप से सामायिक, प्रत्याख्यान, संयम, संवर, विवेक और व्युत्सर्ग के स्वरूप पर चर्चा होती है। पश्चात् पार्श्वपत्य कालाश्यवैशिकपुत्र ने महावीर के संघ में प्रविष्ट होकर पाँच महाव्रत और सप्रतिक्रमण रूप धर्म को स्वीकार किया। इसके साथ ही उसने मुनिचर्या-सम्बन्धी निम्न बातों को भी स्वीकार किया— नग्नता, मुण्डितता, अस्नान, अदन्तधावन, छाता नहीं रखना, जूते नहीं पहनना, भूमिशयन करना, फलक या काष्ठशयन करना, केशलोच करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, भिक्षा, परगृहप्रवेश करना (भिक्षार्थ श्रावकों के घर जाना, निमन्त्रण स्वीकार न करना)। लब्ध-अलब्ध, ऊँच-नीच, ग्रामकण्टक (इन्द्रिय-भोगों की वासना) आदि बाईस परिषदों को सहन करना।^{११} छेदसूत्रों में मुनि-आचार के प्रसङ्ग में छाता, जूते, क्षुरमुण्डन

के उल्लेखों को देखकर डॉ० सागरमल जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पार्श्व की परम्परा में ये सब बातें प्रचलित थीं, जिन्हें महावीर ने दूर किया था।^{१२}

(ग) संयम और तप के फल के सम्बन्ध में महावीर के श्रमण प्रश्न करते हैं और पार्श्वपत्य संयम का फल अनास्रव तथा तप का फल निर्जरा बतलाते हैं। यहीं पर एक अन्य प्रश्न के उत्तर में पार्श्वपत्य विभिन्न मतवादों के द्वारा उत्तर देते हैं। जैसे— प्रश्न-जीव देवलोक में किस कारण से उत्पन्न होते हैं? उत्तर— कालीययुगानुसार प्राथमिक तप से, मोहिल स्थविर के अनुसार प्राथमिक संयम से, आनन्दरक्षित के अनुसार कार्मिकता से (सराग संयम और तप से) तथा काश्यप स्थविर के अनुसार सांगिकता (आसक्ति) से देवलोक में जीव उत्पन्न होते हैं। **व्याख्याप्रज्ञप्ति** (भगवती) में महावीर के धर्म को सप्रतिक्रमण वाला धर्म कहा गया है।^{१३}

४. आवश्यकनिर्युक्ति^{१४}— इसमें महावीर के धर्म को सप्रतिक्रमणवाला तथा छेदोपस्थापना चारित्रवाला बतलाया गया है।

५. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य^{१५}— इसमें दस प्रकार के कल्पों की चर्चा करते हुए कहा है कि महावीर ने दस कल्पों की व्यवस्था दी थी। दस कल्प हैं— १. अचेलता, २. उच्छिष्टत्याग, ३. शय्यातर (आवास दाता), ४. पिण्डत्याग, ५. कृतिकर्म, ६. महाव्रत (चतुर्याम या पञ्चयाम), ७. पुरुषज्येष्ठता, ८. प्रतिक्रमण, ९. मासकल्प और १०. वर्षावास (पर्युषणा)। इनमें से चार (३, ५, ६, ७) कल्प अवस्थित हैं और शेष छः अनवस्थित (अर्थात् सभी तीर्थङ्करों के काल में नहीं होते हैं)। पार्श्व के समय चार कल्पों की व्यवस्था थी, जबकि महावीर के समय सभी १० कल्पों की अनिवार्यता की गयी।

इसके अतिरिक्त प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करों के धर्म को अचेलधर्म (तीर्थङ्कर असंतचेल तथा अन्य संताचेल) तथा मध्यवर्ती तीर्थङ्करों के धर्म को अचेल अथवा सचेल दोनों कहा है।^{१६}

६. राजप्रश्नीय^{१७}— इसमें पार्श्वपत्यीय केशीमुनि द्वारा श्वेताम्बिका के राजा प्रदेशी को उपदेश देने का उल्लेख है।

७. ऋषिभाषित^{१८}— डॉ० सागरमल जैन का कथन है कि ऋषिभाषित में पार्श्व के उपदेशों के प्राचीनतम सन्दर्भ मिलते हैं।^{१९} इस ग्रन्थ में पार्श्व के जिन उपदेशों का उल्लेख है, वे हैं— चातुर्याम, अचित्तभोजन, मोक्ष, लोक, जीव-पुद्गल की गति, कर्म, कर्म-फल-विपाक तथा कर्मफलविपाक से प्राप्त विविध गतियों में संक्रमण। जीव स्वभावतः ऊर्ध्वगामी और पुद्गल अधोगामी हैं। जीव कर्मप्रधान हैं और पुद्गल परिणामप्रधान। जीव में गति कर्मफलविपाक के कारण होती है और पुद्गल में गति परिणामविपाक (स्वाभाविक परिवर्तन) के कारण। जीव सुख-दुःख रूप वेदना का अनुभव करता है। प्राणातिपात-विरमण, कषायविरमण तथा मिथ्यादर्शन रूप शल्य-विरमण से ही जीव को शाश्वत सुख (मोक्ष) प्राप्त हो सकता है। मुक्त होने के बाद पुनः संसार में परिभ्रमण नहीं होता है।

इसी ग्रन्थ में पाठभेद (गतिव्याकरण) के अनुसार निम्न धर्मों का उल्लेख मिलता है— चातुर्याम धर्म, आठ प्रकार का कर्म, कर्मविपाक से नरकादि गतियों में गमन, प्राणातिपात से परिग्रहपर्यन्त पापकर्मों की गणना, पापकर्मों वाला व्यक्ति कभी भी न तो दुःखों से मुक्त हो सकता है और न मोक्ष प्राप्त कर सकता है, कर्मद्वार को रोकने से तथा चातुर्याम धर्म का पालन करने से शाश्वत सुख प्राप्त होता है, जीव स्वकृत कर्मफलों का भोक्ता है, परकृत कर्मफलों का भोक्ता नहीं है, जीव ऊर्ध्वगामी और पुद्गल अधोगामी स्वभाव वाला है, पापकर्मों से युक्त जीव अपने परिणामों (मनोभावों) से गति करता है और वह पुद्गल की गति में भी कारण होता है। जीव और पुद्गल दोनों ही गतिशील हैं। गति दो प्रकार की है— प्रयोग-गति (पर-प्रेरित) और विस्त्रसागति (स्वतः)। इस तरह ऋषिभाषित में भगवान् पार्श्व के जिन सिद्धान्तों को बतलाया गया है, उनमें से चातुर्याम को छोड़कर शेष सभी सिद्धान्त महावीर के धर्म में भी मान्य हैं।

८. मूलाचार^{२०}— दिगम्बराचार्य वड्डकेरकृत मूलाचार में आया है कि महावीर के पूर्व के तीर्थङ्करों ने सामयिक संयम का उपदेश दिया था तथा अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण को आवश्यक बतलाया था; परन्तु महावीर ने सामयिक संयम (धर्म) के साथ छेदोपस्थापना संयम की व्यवस्था दी और प्रतिदिन (अपराध हो चाहे न हो) प्रतिक्रमण करने का विधान किया। इस संशोधन का कारण मूलाचार में उत्तराध्ययनसूत्र की तरह ही बतलाया गया है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव के काल के मनुष्य दुर्विशोध्य थे अर्थात् सरल तथा जड़ होने के कारण ये बार-बार समझाने पर भी ठीक तरह से नहीं समझ पाते थे। द्वितीय से लेकर तेईसवें तीर्थङ्कर के काल के मनुष्य सुविशोध्य (दृढबुद्धि प्रेक्षापूर्वचारी) थे अर्थात् सरल और प्रज्ञावाले थे जिससे उन्हें समझाना कठिन नहीं था, परन्तु महावीर के काल के मनुष्य दुरनुपाल्य थे अर्थात् जड़ थे तथा वक्रबुद्धि वाले थे जिससे उन्हें समझाना कठिन था। इस तरह यहाँ तीर्थङ्करकालीन मनुष्यों के स्वभाव का तो चित्रण है, परन्तु चातुर्याम-पञ्चयाम का तथा सचेत-अचेत धर्म की चर्चा नहीं है।

९. तिलोयपण्णत्ति^{२१}— इसके चतुर्थ महाधिकार में पार्श्व के जीवनवृत्त-सम्बन्धी सूचनाएँ मिलती हैं। यहाँ पार्श्वनाथ को उरगवंशी (नागवंशी) तथा कुमारकाल (अविवाहितावस्था) में दीक्षा लेने वाला बतलाया है।

१०. तत्त्वार्थवार्तिक^{२२}— दिगम्बराचार्य अकलङ्कदेव ने अपने तत्त्वार्थवार्तिक में निर्देश आदि का विधान करते हुए चारित्र के चार भेद भी बतलाए हैं— 'यमों के भेद से चारित्र के चार भेद हैं'। षट्खण्डागम में भी 'पञ्चजम' का प्रयोग इसी अर्थ में आया है।^{२३}

समीक्षा

इस तरह उभय जैन-परम्पराओं में पार्श्व अथवा पार्श्वपत्नियों के सम्बन्ध में जो उल्लेख मिलते हैं उनमें निम्न बिन्दु विचारणीय हैं—

३० : श्रमण/जनवरी-जून २००२ संयुक्तांक

- (१) पार्श्व के चातुर्याम धर्म का पञ्चयाम धर्म में परिवर्तन।
- (२) पार्श्व के सचेलधर्म का अचेलधर्म में परिवर्तन।
- (३) प्रतिक्रमण की अनिवार्यता जो पार्श्व के समय में अपराध होने पर ही करणीय थी।
- (४) पार्श्व के सामायिक चारित्र में छेदोपस्थापनीय चारित्र का समावेश। १
- (५) औद्देशिक तथा राजपिण्ड भिक्षात्र के ग्रहण का निषेध।
- (६) मासकल्प (एक मास से अधिक एक स्थान पर न ठहरना) तथा पर्युषणा (आषाढ़ पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक वर्षावास में एक स्थान पर चार मास तक रहने का विधान) की व्यवस्था।
- (७) अस्नान, अदन्तधावन, केशलोच आदि का विधान।
- (८) पार्श्व के विवाह एवं कुल-सम्बन्धी मतभेद।
- (९) पार्श्वपत्य और पासत्य शब्द क्या पार्श्वनाथ के लिए ही प्रयुक्त हैं?
- (१०) प्रथम तीर्थङ्कर से लेकर चौबीसवें तीर्थङ्कर के काल की परिस्थितियों के अनुसार धार्मिक नियमों में संशोधन।

कुछ व्याख्यागत मतभेद होते हुए भी इन विचारणीय बिन्दुओं में प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ और दशम में दोनों परम्पराएँ एकमत हैं। सचेल और अचेल की व्याख्या को लेकर उभय-परम्पराओं में मतभेद है। पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'जैनसाहित्य का इतिहास (पूर्वपीठिका)' में इस विषय पर विस्तार से चिन्तन किया है।^{२४} वस्तुतः 'अचेल' का अर्थ 'नग्नत्व' है इसमें श्वेताम्बरों का भी मतभेद नहीं है, क्योंकि जिनकल्प की दृष्टि से नग्नत्व उन्हें स्वीकार्य है।

जैनाचार के अनुसार जब कोई मुनि दीक्षा लेकर साधु (निर्ग्रन्थ) बनता है तो वह समस्त पाप-कार्यों का परित्याग करता है जिसे सामायिक चारित्र या सामायिक यम स्वीकार करना कहते हैं। इस एक यम रूप व्रत को जब भेद करके चार या पाँच यम रूप से स्वीकार किया जाता है तो उसे 'चातुर्याम' या 'पञ्चयाम' कहा जाता है। छेदोपस्थापना को जोड़कर महावीर ने इसे 'पञ्चयाम' रूप बनाया; ऐसी दिगम्बर मान्यता संभावित है। यह तर्कसंगत नहीं लगता है। अहिंसादि महाव्रतों में ब्रह्मचर्य को जोड़कर उसे पञ्चयामरूप बनाया, ऐसी श्वेताम्बर मान्यता है। वस्तुतः दोनों में सिद्धान्ततः कोई भेद नहीं है, क्योंकि दोनों परम्पराएँ अहिंसादि पांच महाव्रतों (यमों) और सामायिक आदि पाँचों आचारों (यमों) को आवश्यक मानते हैं। संभवतः छेदोपस्थापना चारित्र को जोड़ने के कारण ही प्रतिदिन प्रतिक्रमण का विधान मान्य हुआ होगा। स्थानाङ्गसूत्र में बतलाया है कि शिष्यों की अपेक्षा से मध्य के बाईस तीर्थङ्कर तथा विदेहस्थ तीर्थङ्कर 'चातुर्याम' धर्म का तथा प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर 'पञ्चयाम' धर्म का उपदेश करते

थे। वास्तव में तो सभी पञ्चयाम धर्म का ही उपदेश करते हैं।^{२५} यहाँ पञ्चयाम का तात्पर्य पाँच महाव्रतों से है, परन्तु इससे तथा अन्य उभय परम्परागत विवेचनों से स्पष्ट है कि पार्श्व और महावीर के उपदेशों में परमार्थतः मतभेद नहीं है; शिष्य-बुद्धि की अपेक्षा संक्षिप्त अथवा विस्तृत कथनमात्र है। इसीलिए आचाराङ्ग में साधु को सचेतन अथवा अचेतन, सूक्ष्म या स्थूल अल्पमात्र भी परिग्रह न रखने का विधान है अन्यथा वह परिग्रही कहलायेगा।^{२६}

इस तरह उभय-परम्पराओं के ग्रन्थों के आलोचन से स्पष्ट है कि पार्श्वनाथ और महावीर के सिद्धान्तों में आध्यात्मिक या निश्चय दृष्टि से कोई भेद नहीं था; किन्तु शिष्य-योग्यता के आधार से उपदेश में भेद है, परन्तु पूर्ण अपरिग्रही (वीतरागता) होना दोनों का लक्ष्य है। जितने भी पार्श्वपत्नियों अथवा पासत्नियों के उल्लेख हैं वे सभी पार्श्व-परम्परा के सम्यक् अनुयायी थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। अन्यथा हम पार्श्वनाथ के सिद्धान्तों को सही नहीं समझ सकेंगे।

सन्दर्भ-सूची

१. हयसेणवम्मिलाहिं जादो हि वाणारसीए पासजिणो। तिलोयपण्णत्ति, ४.५४८.
माता-पिता के नामादि के सन्दर्भ में श्वेताम्बर-दिगम्बर-परम्परा में कुछ अन्तर मिलता है। देखें- **समवायाङ्गसूत्र**, २२०-२२१; **कल्पसूत्र** १४९; **आवश्यकनिर्युक्ति** ३८८; **उत्तरपुराण** ४३; **पासणाहचरित** (वादिराजकृत) ९.९५.५.
२. णेमी मल्ली वीरो कुमारकालम्मि वासुपुज्जो य
पासो वि गहिदतवा सेसजिणा रज्जचरम्मि। तिलोयपण्णत्ति, ४.६७०.
वीरं अरिद्वनेमि, पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च।
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो।
रायकुलेसुऽवि जाया विसुद्धवसेसु खत्तिअकुलेसु
न य इत्थिआभिसेआ कुमारवासमि पव्वइआ।। **आवश्यकनिर्युक्ति**, २२१-२२२.
अन्यत्र देखें— **पउमचरियं** २२; **पद्मपुराण**, २०.६७; **हरिवंश** ६०.२१४.
३. णाहोगवंसेसु वि वीरपासा। तिलोयपण्णत्ति, ४.५५०.
इक्खगुवंसं संभूय भूवइ भाल तिलय भूओ आससेणो नाम नरवई। सिरिपासनाहचरियं।
प्र० ३, पृ० १३४; **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित**, ९.३, पृ० ३४.
४. वाराणस्यामभूत् विश्वसेनः काश्यपगोत्रजः। **उत्तरपुराण**, ७३-७५.
मुणिसुव्वओ अ अरिहा अरिद्वनेमी अ गोयमसगुत्ता। सेसा तित्थयरा खलु कासवगुत्ता
मुणेयव्वा। **आवश्यकनिर्युक्ति**, ३८१.
५. **तिलोयपण्णत्ति** (चतुर्थ महाधिकार) ४.५५०, ५४८; **भगवती आराधना**

३२ : श्रमण/जनवरी-जून २००२ संयुक्तांक

- १९४४ टीका; मूलाचार ७.३६-३८, १२९-१३३; उत्तरपुराण, ७३-७५, ९२.
६. उत्तराध्ययन २३वां अध्ययन, कल्पसूत्र १४८-१५६; ऋषिभाषित अध्ययन ३१; सूत्रकृताङ्ग २.७.८१; १.६.२८; समवायाङ्ग ९.४, ८.८, १६.४, ३८.१, १००.४, स्थानाङ्गसूत्र ३५, भगवतीसूत्र १०.९, २.५; ज्ञाताधर्मकथा, आवश्यकनिर्युक्ति २३६, १२४१-१२४३; राजप्रश्नीयसूत्र, १६७-१९०.
७. उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन २३
८. सूत्रकृताङ्ग, सूत्र २.७.७१-८१.
९. सूत्रकृताङ्ग, सूत्र २.७.८१
१०. भगवतीसूत्र, ९.३२.३७९, १०.९.७६.
११. भगवतीसूत्र, १.९.४३२-४३३.
१२. देखें, अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा, पृ० ३६.
१३. भगवतीसूत्र, १.९.२३.
१४. आवश्यकनिर्युक्ति, १२४१-१२४३.
१५. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, उद्देश ६, भाष्यगाथा ६३५९-६३६४.
१६. वही, भाष्यगाथा ६३६५-६३६९.
१७. राजप्रश्नीयसूत्र, १६७-१९०.
१८. ऋषिभाषित, अध्ययन ३१.
१९. देखें, अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा, पृ० २२.
२०. मूलाचार, ७.३६-३८, १२९-१३३.
२१. तिलोपपण्णत्ति (चतुर्थ महाधिकार), ४.४४८-५५०.
२२. चतुर्धा चतुर्यमभेदात्। तत्त्वार्थवार्तिक, १.७
२३. संगहिय सयल-संजममेय—जममणुत्तरं दुरवगम्मं।
जीवो समुव्वहंतो सामाइय-संजमो होई।
छेत्तूण य परियायं पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं।
पंचजमे धम्मे सो छेदोवड्ढावओ जीवो॥ षट्खण्डागम, खण्ड १, भाग १,
पृ० ३७२.
२४. जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, पृ० ३९५-३९९; ४०९-४२५.
२५. स्थानाङ्गसूत्र, २६६.
२६. आचाराङ्गसूत्र, १५०-१५२.

हिन्दी काव्य परम्परा में अपभ्रंश महाकाव्यों का महत्त्व

साध्वी डॉ० मधुबाला*

हिन्दी-साहित्य के भिन्न-भिन्न कालों पर अपभ्रंश-साहित्य का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। प्रभाव से हमारा तात्पर्य यह नहीं कि हिन्दी-साहित्य में अनेक प्रवृत्तियाँ एकदम नयी थीं या ये प्रवृत्तियाँ सीधे अपभ्रंश-साहित्य में आविर्भूत हुईं और वे उसी रूप में हिन्दी-साहित्य में प्रविष्ट हो गयीं। प्रभाव से हमारा यही अभिप्राय है कि भारतीय-साहित्य की एक अविच्छिन्न धारा चिरकाल से भरत खण्ड में प्रवाहित होती चली आ रही है। वही धारा अपभ्रंश-साहित्य से होती हुई हिन्दी-साहित्य में प्रस्फुटित हुई। समय-समय पर इस धारा का बाह्य रूप परिवर्तित होती रहा; किन्तु मूलरूप में परिवर्तन की सम्भावना नहीं।^१

अपभ्रंश कथाकाव्य तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों की कथावस्तु की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि दोनों प्रकार के काव्यों की कथावस्तु में बहुत कुछ साम्य है। केवल दोनों के उद्देश्य विशेष में अन्तर है। अतएव कथा के वर्णन तथा घटनाओं के मोड़ और चरित्र-चित्रण में भेद लक्षित होता है; किन्तु कथा प्रकार में, प्रबन्ध-रचना में तथा शैली में हिन्दी के प्रेमाख्यानक एवं सूफी काव्यों पर अपभ्रंश के कथा-काव्यों का प्रभाव दिखायी पड़ता है। इस प्रकार कथानक रूढ़ियों और काव्य-रूढ़ियों में अद्भुत साम्य है। इसी प्रकार कामावस्थाओं, स्त्री-भेद, नख-शिख-वर्णन आदि सभी रीतिकालिक प्रवृत्तियों का दोनों में समावेश मिलता है।

यद्यपि हिन्दी के सूफी काव्यों में सज्जन-दुर्जन वर्णन, आत्म-विनय-प्रदर्शन तथा काव्य की प्रेरणा आदि काव्य-रूढ़ियों का पालन नहीं हुआ; किन्तु मंगलाचरण, आत्म-परिचय तथा कथा-रचना का उद्देश्य एवं गुरु-परम्परा का निर्देश प्रेमाख्यानों में मिलता है।^२ इसी प्रकार अपभ्रंश-कथाकाव्य की भाँति प्रेमाख्यानक-काव्यों में कहीं-कहीं कथा की प्राचीनता का उल्लेख देखा जाता है। यही नहीं कई कथाएँ साम्प्रदायिक मत एवं वादों से रहित शुद्ध प्रेमकथाएँ कही जा सकती हैं, जिनमें प्रेम के अलौकिक रूप का वर्णन न होकर लोकप्रचलित यथार्थ प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुतः आरम्भिक सूफी कवि उदार तथा लोकयुगीन प्रवृत्तियों से प्रभावित थे; किन्तु परवर्तीकाल में भारतीय जीवन की लोककथाओं को अपना कर सूफी

*. जैन दिवाकर सामायिक साधना भवन, इन्दौर, मध्य प्रदेश।

कवियों ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना चाहा था, परन्तु जिन कवि के अधिकांश ग्रन्थ सूफी विचार पद्धति तथा प्रेमोत्कर्ष-रहित प्रेमाख्यानक काव्य हैं। इतना ही नहीं कवि जानकी इन रचनाओं में मसनवी की परम्परा का पालन भी नहीं हुआ है।^३ यथार्थ में भारतीय साहित्य में अधिकतर प्रेम कथाएँ अपने-अपने मत का प्रचार करने के लिये विभिन्न सन्त कवियों के द्वारा लिखी जाती रही हैं, क्योंकि मनोरंजन तथा प्रभाव की दृष्टि से इन कथाकाव्यों का अत्यन्त महत्त्व है और इसीलिए इन कथाओं में सामाजिक अभिप्राय तथा सामान्य विश्वास भली-भाँति निहित हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जिन कथानक रूढ़ियों का उल्लेख किया है, उनमें से अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक एवं कथा काव्यों में निम्नलिखित रूढ़ियों का समावेश मिलता है।^४

(१) चित्र या पुतली में किसी सुन्दरी को देखकर उस पर मोहित हो जाना, (२) रूप परिवर्तन, (३) नायक का औदार्य, (४) उजाड़ नगरी, (५) विजनवल में सुन्दरी से साक्षात्कार, (६) शत्रु से युद्ध कर या मत्त हाथी को वश में करने पर सुन्दरी से प्रेम या विवाह, (७) जल की खोज में जाने पर प्रिया-वियोग और ऋषि, विद्याधर या असुर का वर्णन, इत्यादि।

इसी प्रकार विवाह के पूर्व नायिका-प्राप्ति का प्रयत्न तथा लौकिक और दैवी बाधाओं की योजना अपभ्रंश और हिन्दी के लगभग सभी प्रबन्ध-काव्यों में मिलती है।^५ सिंहल द्वीप की यात्रा का वर्णन भी अपभ्रंश के सभी कथाकाव्यों में तथा हिन्दी के लगभग सभी प्रेमाख्यानक काव्यों में हुआ है और समुद्र में जहाज के भग्न होने तथा नायक-नायिका के बिछुड़ने की घटना भी समान रूप से वर्णित मिलती है।

प्रायः सूफी प्रबन्ध काव्यों की कथा का अन्त संयोगमूलक दुखान्त होता है; किन्तु कवि मंझन, जान, उसमान, नूर मुहम्मद, ख्वाजा अहमद और शेख रहीम की अधिकतर रचनाएँ सुखान्त हैं।^६ अपभ्रंश के कथाकाव्यों में भी विरह की तीव्रता के पश्चात् संयोग तथा लौकिक सुख का वर्णन मिलता है। इसलिए वियोग सभी कथाकाव्यों में अनिवार्य रूप से वर्णित है। प्रेमाख्यानक कथाकाव्यों में तो प्रेम एवं वियोग ही मुख्य हैं। इस प्रकार अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों में कई बातें समान रूप से वर्णित लक्षित होती हैं, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

- (१) धनपाल की **भविष्यदत्तकथा** और जायसी के **पद्मावत** का पूर्वार्द्ध भाग लोककथा है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक जान पड़ता है।^७ दोनों ही प्रबन्धकाव्य दो खण्डों में विभक्त है। विषय भी लगभग दोनों में समान है— अभिप्राय की दृष्टि से मूलरूप में।
- (२) विरह-वर्णन, नख-शिख-वर्णन, ऋतु-वर्णन और कामदशाओं आदि के वर्णन रीतिकालीन प्रवृत्तियों का उदय स्पष्ट रूप से देखा जाता है।
- (३) साहसिक कार्यो तथा अतिमानवीय बातों का समावेश दोनों में मिलता है।

- (४) साहित्यिक रूढ़ियों का भी किसी-किसी ने पालन किया है।
- (५) प्रबन्ध-संघटना में भी कहीं-कहीं साम्य है।
- (६) लगभग सभी सूफी एवं प्रेमाख्यानक काव्य चौपाई दोहायुक्त शैली में लिखे गये हैं, जो अपभ्रंश की कडवक शैली का परवर्ती रूप है।
- (७) देशज शब्दों, लोकोक्तियों, मुहावरों आदि का प्रचुर प्रयोग दोनों में मिलता है। लोकजीवन की अनेक बातों में समानता होने से दोनों में बहुत कम अन्तर दिखायी पड़ता है।

सूफी काव्य रचयिताओं ने अधिकांश दोहा-चौपाई के क्रम से काव्य-रचना की है तथा चौपाइयों के क्रम में विशेष कर पाँच चौपाइयों से लेकर सात या नौ तक के अन्तर में दोहा रखा है। मंझनकृत **मधुमालती**, जानकवि विरचित **रतनमंजरी** और नूरमुहम्मदकृत **इन्द्रवती** में पाँच अर्द्धालियों के बाद एक दोहे का क्रम मिलता है। इसी प्रकार उसमान रचित **चित्रावली** में, कासिमशाहकृत **हंसजवाहिर** में तथा कवि नसीरकृत **प्रेमदर्पण** में सात अर्द्धालियों के अनन्तर एक दोहे का क्रम दृष्टिगोचर होता है और हुसेनअली रचित **पुहुमवती** में तथा कवि शेख निसारकृत **युसुफजुलेखा** में नौ अर्द्धालियों के पश्चात् एक दोहे के क्रम से रचना हुई है; किन्तु जानकविकृत **कामलता** में चौपाई छन्द ही मिलता है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों में सामान्यतः चार पद्धड़िया छन्द से लेकर पन्द्रह, सोलह तथा किसी में बीस छन्द और द्विपदी या तत्सम किसी अन्य छन्द-योजना का क्रम देखा जाता है; किन्तु अधिकतर पाँच या छह पद्धड़िया छन्द के बाद द्विपदी का क्रम प्राप्त होता है अतएव रचना-बन्ध की यह शैली निश्चित ही अपभ्रंश से परम्परा के रूप में हिन्दी-प्रबन्धकाव्यों को प्राप्त हुई जिसका परवर्ती रूप हमें जायसी के **पद्मावत** और **रामचरितमानस** में लक्षित होता है। इसी प्रकार चौपाई बन्ध की स्वतन्त्र शैली अपभ्रंश से ही हिन्दी को मिली है। कवि रल्लकृत **जिनदत्तचउपई** लगभग छह सौ चौपाइयों में निबद्ध रचना है। सम्पूर्ण रचना चौपाइयों में लिखी हुई मिलती है, जो अपभ्रंश के कथाकाव्य के अन्तर्गत परिगणित है।

शैली की भाँति सूफी एवं प्रेमाख्यानक काव्यों पर अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों में वर्णित छन्दों का प्रभाव देखा जाता है। स्पष्ट ही **सत्यवतीकथा**, **मृगावती**, **नुरूक चन्दा**, **मैनासत्त**, **छिताईचरित**, **मधुमालती** आदि प्रबन्धकाव्य चौपाई और दोहा में लिखे गये हैं।^८ इसी प्रकार **मधुमालती**, **चित्रावली**, **पुहुपवरिषा**, **रतनमंजरी**, **कँवलावती**, **लैला-मजनू**, **कलावती**, **हंसजवाहिर**, **इन्द्रावती**, **अनुराग**, **बाँसुरी**, **पुहुपावती**, **युसुफजुलेखा**, **भाषाप्रेमरस** तथा **प्रेमदर्पण** आदि में चौपाई-दोहा की योजना मिलती है। **पद्मावत** और **रामचरितमानस** तो सर्वविदित ही है। वस्तुतः अपभ्रंश के कथाकाव्यों में पद्धड़िया छन्द के साथ द्विपदी या उसके आकार का अथवा अन्य कोई छन्द प्रयुक्त हो सकता था; किन्तु साधारणतया द्विपदी दोहा या धाता छन्द का प्रयोग मिलता है अतएव अनुराग बाँसुरी में भी चौपाइयों के साथ बरवै

का प्रयोग किया गया है।^{१९} इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि अपभ्रंश के कड़वक में, जिस प्रकार पद्धड़िया के अन्त में द्विपदी या दोहा का प्रचलन रहा है उसी प्रकार सूफी या प्रेमाख्यानक काव्यों में भी चौपाई के अन्त में दोहा या उसकी जाति के छन्द का चलन रहा है।

वस्तुतः चौपाई और दोहा अपभ्रंश के मात्रिक छन्द हैं। अपभ्रंश के मूल छन्द मात्रिक ही हैं। हिन्दी के चौपाई, छप्पय, दोहा, रोला, दुर्मिल, सोरठा, गीति, कुण्डलिया, उल्लाला, पद्धड़ी या पद्धरि आदि छन्द निश्चित रूप से प्राकृत के हैं।^{२०} अतएव रहीम का बरवै, गंग का छप्पय, तुलसीदास की चौपाई, बिहारी का दोहा तथा सेनापति का कवित्त एवं सवैया प्रभृति हिन्दी के प्रमुख छन्द प्राकृत-अपभ्रंश-धारा में से होकर हिन्दी-साहित्य में समा गये हैं।^{२१} परवर्ती काल में भारत की अन्य भाषाओं में भी इनमें से कई छन्दों का प्रयोग होने लगा था।

दोहा, छन्द अपभ्रंश में अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रयुक्त रहा है। दोहा का सबसे पहला प्रयोग हमें विक्रमीवंशीय में मिलता है। जिस प्रकार अभंग, दिण्डी, साकी और ओवी आदि मराठी के निजी छन्द हैं^{२२} उसी प्रकार दोहा, चौपाई, गीता, हरिगीता आदि अपभ्रंश के औरस छन्द हैं। बरवै छन्द में प्रथम और तृतीय चरण में १२-१२ तथा द्वितीय और चतुर्थ में सात-सात मात्राएँ होती हैं। अपभ्रंश में इससे मिलता-जुलता छन्द भ्रमरावलि है। इसमें भी प्रथम चरण में बारह और द्वितीय में सात मात्राएँ होती हैं।^{२३} यथा—

ओरणङ्गं भमइ, भमरावलि।

मयणधणुह गुणवल्लि, णां सामलि।।

हिन्दी का हरिगीतिका छन्द तो ज्यों का त्यों प्राकृतपैंगलम् में हरिगीता नाम से मिलता है।^{२४} दोनों में ही अट्टाईस मात्राएँ तथा अन्त में गुरु रहता है। इसी प्रकार सोरठा भी ११ और १३ मात्राओं से रचित दोनों में समान रूप से मिलता है।^{२५} इस छन्द विषयक समानता को देखकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अपभ्रंश-साहित्य में प्रयुक्त छन्दों का ही हिन्दी-साहित्य में ज्यों का त्यों अथवा कुछ हेर-फेर के साथ प्रयोग हुआ है, जो स्वाभाविक ही है, क्योंकि परम्परा से विकसित कोई भी भाषा या साहित्य एकाएक अपने धरातल पर अधिक समय तक स्थिर रहने के लिये साहित्यिक आदर्श एवं मानकरूपों का आलम्बन लेकर ही समर्थ हो पाता है और यही कारण है कि प्राकृत और अपभ्रंश का साहित्य भी हमें स्वाभाविक बोलचाल की भाषाओं में लिखा हुआ नहीं मिलता।

इस प्रकार प्रबन्ध-शैली तथा रचना की दृष्टि से अपभ्रंश के कथाकाव्यों का विशेष महत्त्व है, जो लोग सूफी काव्यों को मसनवी शैली में लिखा हुआ कहते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि प्रबन्ध-संघटना में मंगलाचरण, आत्म-विनय-प्रदर्शन, स्ववंश-कीर्तन, प्राचीन कवियों तथा आचार्यों का उल्लेख आदि प्रबन्ध-काव्यों की रूढ़ियों का तथा नख-शिख, स्त्री-भेद, इति द्वारा प्रेम-निवेदन, उपवन-विहार, जलक्रीड़ा, सिंहलद्वीप की यात्रा तथा

कामावस्थाओं का वर्णन एवं वियोग में कौआ उड़ाकर सन्देश भेजना, आदि बातों का पालन अपभ्रंश प्रबन्ध काव्यों की पद्धति पर हुआ है और फिर स्पष्ट रूप से चौपाई-दोहा, तथा गीतशैली का स्वतन्त्र प्रयोग अपभ्रंश कथाकाव्यों में मिलता है। हिन्दी का चौपाई, छन्द और अपभ्रंश का पद्धतिया बहुतकर एक ही छन्द है। दोनों में सोलह-सोलह मात्राएँ होती हैं तथा दो पंक्तियाँ चार चरणों की होती हैं। आचार्य स्वयम्भू के पहले से भी यह छन्द प्रचलित रहा है। अतएव यह कड़वक शैली अपभ्रंश के काव्यों की विशेष प्रवृत्ति है। पं० विश्वनाथ के कथन से भी इस बात की पुष्टि होती है।^{१६} भारतीय साहित्य में यह पद्धति अपभ्रंश काव्यों में ही प्रयुक्त देखी जाती है।

परवर्ती विकास में पद्यबद्ध हिन्दी काव्यों में जैन कवियों द्वारा लिखित रचनाएँ इसी परम्परा का पालन करती हुई लक्षित होती हैं। उनमें अन्तर इतना ही है कि कड़वक शैली में जहाँ पद्धतिया के अन्त में कोई भी छन्द जुड़ सकता था, वहाँ अपभ्रंश कथाकाव्यों की उत्तरकालीन प्रवृत्ति की भाँति द्विपदी या उसकी जाति के किसी छन्द का प्रयोग किया जाने लगा था। बरवै का भी प्रयोग मिलता है। इस प्रकार अपभ्रंश-कथाकाव्य-धारा में विकसित शैलीगत प्रयोग तथा छन्दोबद्ध कड़वक-रचना सूफी काव्य तथा प्रेमाख्यानक काव्यों में ही नहीं, तुलसीदास के **रामचरितमानस** में भी दिखायी पड़ती है। इस रूप में तथा प्रबन्धगत अन्य बातों में भी स्पष्ट रूप से जाने-अनजाने हिन्दी की साहित्यिक-परम्परा का विकास हुआ है।^{१७}

सन्दर्भ-सूची

१. प्रो० हरिवंश कोछड़, **अपभ्रंश-साहित्य**, पृ० ३८७ से ४००.
२. डॉ० सरला शुक्ला, **जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य**, पृ० २७७.
३. वही.
४. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, **हिन्दी साहित्य का आदिकाल**, पृ० ८०-८१
५. डॉ० सरला शुक्ला, पूर्वोक्त, पृ० १७१.
६. वही, पृ० २०९.
७. रवीन्द्र भ्रमर, "पद्मावत की कथा का लोकरूप", **आलोचना**, वर्ष ४, अंक ४, पृ० ३८-४४.
८. डॉ० शम्भूनाथ सिंह, **हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास**, पृ० ४०९.
९. डॉ० सरला शुक्ल, पूर्वोक्त, पृ० ४९२.
१०. डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन, 'प्राकृत छन्दकोश', **हिन्दुस्तानी**, भाग २२, अंक ३-४, पृ० ४४.

३८ : श्रमण/जनवरी-जून २००२ संयुक्तांक

११. वही, पृ० ४५.

१२. विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े, मराठी छन्द, पृ० ३४.

१३. समे सप्त ओजे द्वादश भ्रमरावलि। छन्दोऽनुशासन, ६.२०.५.

१४. गण चारि पंचकल ठबिज्जसु बीअ ठामहि छक्कलो

पअ पअह अंतहि गुरु करिज्जसु वण्णणेण सुसव्वलो॥ प्राकृत पैंगलम्, १.१९१.

१५. वही, १.१७०.

१६. अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन्सर्गाः कुडवकाभिधाः।

तथापभ्रंशयोग्यानि च्छन्दांसि विविधान्यपि॥ साहित्यदर्पण, ६.३२७.

१७. डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, भविसत्तकहा तथा अपभ्रंश कथाकाव्य, पृ० ४२५ से ४३२.



भारतीय आर्य भाषाओं की विकास-यात्रा में अपभ्रंश का स्थान

साध्वी डॉ० मधुबाला*

भारतीय आर्य भाषाओं के विकास में मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल के अनन्तर वर्तमान काल की देश-भाषाओं का काल आता है। डॉ० सुनीति कुमार ने इसको 'इण्डो आर्यन पीरियड' कहा है।^१ इस काल को 'आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल' कह सकते हैं।^२ इस काल में भारत की वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं की गणना की गयी है।

वर्तमान प्रान्तीय आर्यभाषाओं का विकास अपभ्रंश से हुआ है। शौरसेनी अपभ्रंश से ब्रजभाषा, खड़ीबोली, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती और पहाड़ी भाषाओं का सम्बन्ध है। इनमें से मराठी, गुजराती और राजस्थानी का सम्बन्ध विशेषतया शौरसेनी एवं महाराष्ट्री अपभ्रंश के संयुक्त रूप से माना जाता है। मागध अपभ्रंश से भोजपुरी, उड़िया, बंगाली, आसामी, मैथिली, मगही आदि का विकास हुआ और अर्धमागधी से पूर्वी हिन्दी- अवधी आदि का, महाराष्ट्री से मराठी का सम्बन्ध जोड़ा जाता था।^३ किन्तु आजकल विद्वान् इसमें सन्देह करने लगे हैं और इन दोनों में परस्पर सम्बन्ध नहीं मानते।^४ सिन्धी का द्रविड़ अपभ्रंश से सम्बन्ध कहा गया है। पंजाबी, शौरसेनी अपभ्रंश से प्रभावित समझी जाती है।

इन भिन्न-भिन्न भाषाओं का विकास तत्कालीन अपभ्रंश के साहित्यिक रूप धारण करने पर तत्कालीन प्रचलित सर्वसाधारण की बोलियों से हुआ। इनका आरम्भ काल १००० ईस्वी माना गया है। इस काल के बाद १३वीं-१४वीं शताब्दी तक अपभ्रंश के ग्रन्थों की रचना होती रही। इन प्रान्तीय भाषाओं के विकास के पूर्वकाल में वे सब भिन्न-भिन्न अपभ्रंशों से प्रभावित हुई दिखायी देती हैं। उत्तरकाल का अपभ्रंश-साहित्य भी इन प्रान्तीय भाषाओं से प्रभावित होता रहा। इस प्रकार प्रान्तीय भाषाओं के प्रारम्भिक रूप में और अपभ्रंश काल के उत्तर रूप में दोनों के साहित्य चिरकाल तक समानान्तर रूप से चलते रहे।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल में आकर भाषाएँ संयोगात्मक से वियोगात्मक या विश्लेषात्मक हो गयी थीं। इस काल की सभी भाषाएँ अपभ्रंश से प्रभावित हैं। इस आलेख में हिन्दी को दृष्टि में रखकर उसका अपभ्रंश से भेद निर्दिष्ट किया गया है।

*. जैन दिवाकर सामायिक साधना भवन, इन्दौर, मध्यप्रदेश.

हिन्दी में ध्वनियाँ प्रायः वही हैं जो मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं में मिलती थीं। स्वरो में ऋ का प्रयोग संस्कृत के तत्सम शब्दों में मिलता है; किन्तु इसका उच्चारण रि होता है। ऐ और औ का उच्चारण संस्कृत के समान अइ, अउ न होकर अए, (ऐसा), अओ, (औरत) रूप में परिवर्तित हो गया है। अंग्रेजी के प्रभाव से फुटबॉल, कॉलेज आदि शब्दों में व्यवहृत ऑ ध्वनि हिन्दी के पढ़े-लिखे लोगों में प्रचलित हो गयी है। व्यंजनों में श् और ष् में भेद नहीं रहा। ष का उच्चारण भी प्रायः श् के समान ही होता है। संयुक्ताक्षर ज्ञ का उच्चारण गय, ग्य, ज्यँ आदि रूपों में स्थान भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है। व्यंजनों में ड और ढ नयी ध्वनियाँ हैं। इसी प्रकार अरबी और फारसी के प्रभाव से क़ ख़ ग़ ज़ फ़ आदि ध्वनियों का भी विकास हुआ। इनका प्रयोग अरबी और फारसी के तत्सम शब्दों में होता है; किन्तु रूढ़िवादी इनका उच्चारण देशी ध्वनियों के समान क ख ग ज फ ही करते हैं। जैसे— कागज़ के स्थान पर कागजा।^५

वैयाकरणों ने प्राकृत व्याकरण में प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश का विचार किया है। सिंहराज का कथन है कि अपभ्रंश में प्रायः शौरसेनी की भाँति कार्य होता है।^६ प्राकृतरूपावतार की भाँति प्राकृतमणिदीप, प्राकृतशब्दानुशासन, आर्षप्राकृत व्याकरण तथा चण्डकृत प्राकृत प्रकाश में शौरसेनी प्राकृत के अन्तर्गत अपभ्रंश का विधान मिलता है।

(अ) उपनागर

स्पष्ट रूप से आचार्य मार्कण्डेय और आचार्य हेमचन्द्र अपभ्रंश का विवरण देते हैं। प्राकृत-सर्वस्व में अपभ्रंश के मुख्य तीन भेद कहे गये हैं— नागर, ब्राचड़ और उपनागर।^७ अन्य अपभ्रंशों में बहुत ही सूक्ष्म अन्तर होने से उनका निर्देश अलग से नहीं किया गया। ब्राचड़ सिन्ध की बोली है। उसका जन्म ही सिन्ध में हुआ है।^८ नागर से अभिप्राय गुजरात का तथा उपनागर से तात्पर्य सिन्ध और गुजरात के मध्यवर्ती मालव, मारवाड़, पंजाब आदि से है।

वैयाकरणों के इन उल्लेखों से पता चलता है कि अपभ्रंश प्रादेशिक बोलियों के रूप में फैली हुई थी, परन्तु वैयाकरण लोग उनका विवरण देने में रुचि नहीं रखते थे, क्योंकि वे रूढ़ भाषा का विचार करते थे। इसके अतिरिक्त साहित्य की भाषा में जो नाम-रूप मिलते थे, उनका पूरा-पूरा अभिधान है।

वैयाकरणों की अपेक्षा संस्कृत-साहित्य के समालोचकों ने अपभ्रंश का परिचय ठीक से दिया है। आचार्य भामह संस्कृत-प्राकृत की भाँति अपभ्रंश को भी काव्य की भाषा कहते हैं।^९ उन्होंने अपभ्रंश के प्रादेशिक भेदों के आधार पर छह भेद बताये हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने शिष्ट और ग्राम्य के भेद से अपभ्रंश के दो रूपों की चर्चा की है।^{१०} किन्तु प्राकृतसर्वस्वकार मार्कण्डेय ने भाषा के चार विभाग माने हैं— भाषा, विभाषा,

अपभ्रंश और पैशाची। भाषा के पाँच भेद हैं— महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती तथा मागधी। विभाषाएँ भी पाँच कही गयी हैं। शकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरी और शाक्वी (शाखी)। उन्होंने अपभ्रंश के नागर, उपनागर और ब्राचड़ तीन मुख्य भेद माने हैं तथा आद्री, द्राविड़ी आदि सत्ताइस भेद कहे हैं। अधिकतर वैयाकरण प्राकृत का ही प्रधान रूप से विचार करते हुए लक्षित होते हैं। सभी प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृत के महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची— इन चार भेदों का व्याकरण दिया है। केवल **प्राकृतशब्दानुशासन** और हेमचन्द्रकृत **शब्दानुशासन** में इनके अतिरिक्त चूलिका और पैशाची अपभ्रंश का अधिक विवरण है। **षड्भाषाचन्द्रिका** में भी उक्त छहों भाषाओं का विचार हुआ है। यदि हम सभी उल्लेखों पर विचार करें तो देशी भेदों से अपभ्रंश के कई भेदों की कल्पना करनी होगी; किन्तु उसे उचित नहीं कहा जा सकता। फिर, उपलब्ध साहित्य से उसकी कोई संगति भी नहीं बैठती, इसलिए केवल साहित्यिक रचनाओं को देखते हुए अपभ्रंश के अनिवार्यतः दो भेद माने जाते हैं— पूर्वी और पश्चिमी। किन्तु डॉ० तगारे ने पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी तीन भेद माने हैं।^{११}

यद्यपि अपभ्रंश साहित्य उत्तर भारत को छोड़ कर तीनों भागों में प्राप्त होता है पर भाषा की दृष्टि से हम उसे मुख्य दो रूपों में विभाजित कर सकते हैं। दक्षिण भारत से प्राप्त साहित्य मूलतः पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रंश में निबद्ध हैं। पूर्वी अपभ्रंश मागधी प्राकृत से प्रभावित है। साहित्य में महाराष्ट्री तथा शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचलन रहा है, क्योंकि उक्त दोनों प्राकृत संस्कृत के अधिक निकट रही हैं।^{१२} “शौरसेन्यां ये शब्दास्तेषां प्रकृतिः संस्कृतः” फिर अपभ्रंश में शौरसेनी के अनुसार भाषा-विधान है।^{१३} इसलिए शौरसेनी अपभ्रंश की मुख्यता का सहज में निश्चय हो जाता है। पूर्वी अपभ्रंश में हमें सिद्ध-साहित्य लिखा हुआ मिलता है, जो मागधी के अधिक निकट है; किन्तु दक्षिणी अपभ्रंश की कोई स्पष्ट भेदक रेखा नहीं खींची जा सकती। अतएव अपभ्रंश के मुख्य दो तथा प्रादेशिक अनेक भेद माने जा सकते हैं। अन्य भेदों में सामान्य रूप से कहीं-कहीं अन्तर दिखायी देता है, जिसका उल्लेख प्राकृत वैयाकरणों ने अत्यन्त संक्षिप्त रूप में किया है। इसी प्रकार भाषा की दृष्टि से देशी और साहित्यिक भेद से अपभ्रंश के दो रूप कहे जा सकते हैं। स्वयम्भू ने अपनी भाषा को ग्रामीण जनों की भाषा से हीन देशी भाषा कहा है। देशी लोकभाषा का वह रूप था जो जनसामान्य में प्रचलित था लेकिन साहित्यिक भाषा केवल शिष्ट जनों की थी। समाज में भाषा विषयक यह अन्तर वैदिक युग से लेकर आज तक बराबर हुआ है। इसका एकमात्र कारण सामाजिक वर्ग-भेद माना जा सकता है।

(य) शौरसेनी

संस्कृत के नाटकों में स्त्री-पात्रों तथा मध्य कोटि के पुरुष पात्रों द्वारा शौरसेनी का प्रयोग किया जाता था। यही भाषा साहित्यिक रूप में चिरकाल तक भारत के विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त

होती रही। दो स्वरों के बीच में संस्कृत के त् और य् का क्रमशः द और ध् हो जाना इस भाषा की विशेषता है। दो स्वरों के बीच में स्थित द् और ध् वैसे ही रहते हैं। उदाहरणार्थ—

गच्छति = गच्छदि, यथा = जधा, जलदः = जलदो, क्रोधः = क्रोधो इत्यादि।

(र) महाराष्ट्री

यह काव्य की पद्यात्मक भाषा है। काव्य के पद्यों में इसी का प्रयोग होता था। हाल रचित **गाथासप्तशती** और प्रवरसेन रचित **सेतुबन्ध** या **रावणवध** जैसे उत्कृष्ट कोटि के काव्य इसी भाषा में रचे गये। दो स्वरों के बीच के अल्पप्राण स्पर्श वर्ण का लोप और महाप्राण का हो जाना महाराष्ट्री की विशेषता है। उदाहरणार्थ—

गच्छति = गच्छइ, यथा = जहा, जलद = जलओ, क्रोध = कोहो।

डॉ० मनमोहन घोष का विचार है कि महाराष्ट्री, महाराष्ट्र की भाषा नहीं अपितु शौरसेनी के विकास का उत्तरकालीन रूप है। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी भी इस आधार पर इसे शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के मध्य की अवस्था मानते हैं।^{१४}

(ल) मागधी

यह मगध देश की भाषा थी। नाटकों के निम्न वर्ग के पात्र इसी भाषा का प्रयोग करते थे। इसके मुख्य लक्षण ये हैं—

(क) संस्कृत उष्म वर्णों के स्थान पर श् का प्रयोग।

(ख) र् के स्थान पर ल् का प्रयोग। सप्त = शत। राजा = लाजा।

(ग) अन्य प्राकृतों में य् के स्थान पर ज् का प्रयोग होता है। इसमें य् ही रहता है। प्राकृत के शब्द जिनमें ज् और ज्ज का प्रयोग होता है इसमें य् और य्य रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। जैसे— जानाति = याणादि, अदत्य = अय्या।

(घ) ण्ण के स्थान पर ञ्ज का प्रयोग। यथा पुण्य = पुञ्ज।

(ङ) अकारान्त संज्ञा के प्रथम विभक्ति के एकवचन में ओ के स्थान पर ए का रूप यथा— देवो = देवे।

मागधीप्राकृत का अभिलेखों एवं नाटकों के अतिरिक्त कोई साहित्यिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है।

आजकल प्रत्येक प्राकृत के एक अपभ्रंश रूप की कल्पना की गयी है; किन्तु व्याकरण के प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार का विभाग दिखायी नहीं देता। हाँ, रुद्रट ने अपने काव्यालङ्कार में देश भेद से अपभ्रंश के अनेक भेदों की ओर निर्देश किया है।

सन्दर्भ-सूची

१. डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी, **इण्डो आर्यन एण्ड हिन्दी**, पृ० ९७.
२. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, **हिन्दी भाषा का इतिहास**, पृ० ४८.
३. स्टेन कोनो, **महाराष्ट्री एण्ड मराठी**, पृ० १८०-१९२.
४. वही, पृ० ५५३.
५. डॉ० हरिवंश कोछड़, **अपभ्रंश साहित्य**, पृ० १८-१९.
६. शौरसेनीवत्। अपभ्रंशे प्रायः शौरसेनीवत् कार्य भवति। हेमचन्द्र - **शब्दानुशासन** ८/४/४४६.
७. नागरो ब्राचडश्चोपनागरश्चेति ते त्रयः।
अपभ्रंशा परे सूक्ष्यभेदत्वात् पृथङ्मताः।। **प्राकृतसर्वस्व**, १/५.
८. ब्राचडो नागरात्सिध्येत्। सिन्धुदेशोद्भवो ब्राचडोऽपभ्रंशः। **प्राकृतसर्वस्व**, १८/१.
९. संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा। **काव्यालंकार**, १.१६.
१०. एच०जाकोबी, **इण्ट्रोडक्शन टू द भविसयत्तकहा**।
११. डॉ० तगारे, **हिस्टारिकल ग्रामर ऑव अपभ्रंश**, पृ० १५-१६.
१२. प्रकृतिः संस्कृतम्। वररुचि, **प्राकृत प्रकाश**, १२.२.
१३. शौरसेनीवत्। हेमचन्द्र, ८.४४६
१४. **इण्डो आर्यन एण्ड हिन्दी**, पृ० ६.



प्रकीर्णक साहित्य : एक अवलोकन*

डॉ० अतुलकुमार प्रसाद सिंह**

आगम-साहित्य मुख्यतः दो भागों में विभक्त है। अङ्गबाह्य आगम और अङ्गप्रविष्ट आगम। अङ्गप्रविष्ट आगम वह है जिसका उपदेश तीर्थङ्करों ने स्वयं दिया और गणधरों ने जिसे सूत्ररूप में संगृहीत किया। ऐसे १२ अङ्ग आगम हैं। ये हैं— आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपाशकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। इसमें दिगम्बर मान्यतानुसार दृष्टिवाद के कुछ भाग (कसायपाहुडसुत्त और षट्खण्डागम) को छोड़कर सभी आगम लुप्त माने गये हैं तो श्वेताम्बर मान्यतानुसार बारहवें आगम दृष्टिवाद का विलोप हो चुका है। अङ्गबाह्य आगम वे हैं जो सीधे तीर्थङ्करों की वाणी नहीं हैं अपितु जिनमें तीर्थङ्करों के विचारों की व्याख्या अन्य आचार्यों द्वारा की गयी है। इसमें १२ उपाङ्ग, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र, १० प्रकीर्णक एवं २ चूलिका-सूत्र माने जाते हैं। नन्दीसूत्र में इन अङ्गबाह्य आगमों को प्रथमतः दो भागों में रखा गया है— आवश्यक एवं आवश्यक व्यतिरिक्त। आवश्यक के अन्तर्गत सामायिक आदि छः ग्रन्थ हैं। आवश्यक व्यतिरिक्त ग्रन्थों को कालिक और उत्कालिक दो भाग में विभक्त किया गया है। वर्तमान में कुल ४६ आगम (दृष्टिवाद को छोड़कर ४५) श्वेताम्बर मूर्तिपूजक-सम्प्रदाय में मान्य हैं। इनमें प्रकीर्णकों को श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के तेरापंथ एवं स्थानकवासी स्वीकार नहीं करते हैं। इस प्रकार विशाल प्रकीर्णक साहित्य साम्प्रदायिक दृष्टि से पूरी तरह उपेक्षित है।

परम्परागत मान्यतानुसार जिस तीर्थङ्कर के संघ में जितने श्रमण होते हैं उनमें से प्रत्येक के द्वारा एक-एक प्रकीर्णक की रचना का उल्लेख है, इसी कारण समवायाङ्गसूत्र में ऋषभदेव के चौरासी हजार शिष्यों के उतने ही प्रकीर्णकों का उल्लेख है।^१ इसी प्रकार महावीर के तीर्थ में चौदह हजार श्रमणों द्वारा इतने ही प्रकीर्णक रचने की मान्यता है।^२

प्रकीर्णक 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से 'क्त' प्रत्यय सहित निष्पन्न 'प्रकीर्ण' शब्द

*. पार्श्वनाथ विद्यापीठ में आयोजित "जैन विद्या अध्ययन : समीक्षा एवं सम्भावनायें" नामक अखिल भारतीय संगोष्ठी में पठित शोध आलेख.

** . दैनिक जागरण सम्पादकीय विभाग, बरेली २४३००१.

से 'कन्' प्रत्यय होने पर बना है। इसका शाब्दिक अर्थ है— नानासंग्रह, फुटकर वस्तुओं का संग्रह और विविध वस्तुओं का अध्याय, पर जैन-साहित्य में 'प्रकीर्णक' एक विशेष प्रकार का पारिभाषिक शब्द है। आचार्य आत्माराम जी ने प्रकीर्णक की व्याख्या निम्न प्रकार से की है—

“अरिहन्त के उपदिष्ट श्रुतों के आधार पर श्रमण निर्ग्रन्थ भक्ति भावना तथा श्रद्धावश मूल भावना से दूर न रहते हुए जिन ग्रन्थों का निर्माण करते हैं, उन्हें 'प्रकीर्णक' कहते हैं।” प्रकीर्णकों की रचना करने का दूसरा उद्देश्य यह भी समझा जा सकता है कि इनसे सर्वसाधारण आसानी से धर्म की ओर उन्मुख हो सके।

प्राचीन आगम ग्रन्थों में ऐसा कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि अमुक-अमुक ग्रन्थ प्रकीर्णक के अन्तर्गत हैं। नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र दोनों में आगमों के विभिन्न वर्गों में कहीं भी प्रकीर्णक वर्ग का उल्लेख नहीं है। यद्यपि इन दोनों ग्रन्थों में, आज हम जिन्हें प्रकीर्णक मानते हैं, उनमें से ९ ग्रन्थों का उल्लेख कालिक एवम् उत्कालिक आगमों के अन्तर्गत आता है। कालिक के अन्तर्गत ऋषिभाषित और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति एवम् उत्कालिक के अन्तर्गत देवेन्द्रस्तव, तन्दुलवैचारिक, चन्द्रकवैध्यक, गणिविद्या, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान और मरण विभक्ति आता है। आगमों का अङ्ग, उपाङ्ग, छेदसूत्र, मूलसूत्र, चूलिका एवं प्रकीर्णक के रूप में विभाजन सर्वप्रथम आचार्य जिनप्रभ के विधिमार्गग्रथा (ईसा की १४वीं शताब्दी) में मिलता है।

अङ्ग आगमों में 'प्रकीर्णक' का उल्लेख सर्वप्रथम समवायाङ्गसूत्र में मिलता है। प्रो० सागरमल जैन के अनुसार प्रारम्भ में अङ्ग आगमों से इतर आवश्यक, आवश्यक व्यतिरिक्त, कालिक एवम् उत्कालिक के रूप में वर्गीकृत सभी ग्रन्थ प्रकीर्णक कहलाते थे।^३ उन्होंने इसके प्रमाणस्वरूप षट्खण्डागम की धवला टीका का उल्लेख किया है जिसमें १२ अङ्ग आगमों से भिन्न अङ्गबाह्य ग्रन्थों को प्रकीर्णक नाम दिया है। “अङ्गबहिरचोदसपङ्गणयज्जाया”।^४ इसमें उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, ऋषिभाषित आदि को भी प्रकीर्णक ही कहा गया है।^५ यह भी ज्ञातव्य है कि प्रकीर्णक नाम से अभिहित अथवा प्रकीर्णक वर्ग में समाहित सभी ग्रन्थों के नाम के अन्त में प्रकीर्णक शब्द तो नहीं मिलता है, मात्र कुछ ही ग्रन्थ ऐसे हैं जिनके नाम के अन्त में प्रकीर्णक शब्द का उल्लेख हुआ है फिर भी इतना निश्चित है कि प्रकीर्णकों का अस्तित्व अतिप्राचीन काल में भी रहा है, चाहे उन्हें प्रकीर्णक नाम से अभिहित किया गया हो अथवा न किया गया हो। नन्दीसूत्रकार ने अङ्ग आगमों को छोड़कर आगम रूप में मान्य अन्य सभी ग्रन्थों को प्रकीर्णक कहा है। (नन्दीसूत्र, सम्पा०-मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, ई० सन् १९८२, सूत्र ८१) अतः प्रकीर्णक शब्द आज जितने सङ्कुचित अर्थ में है उतना पूर्व में नहीं था। उमास्वाति और देववाचक के समय में तो अङ्ग आगमों के अतिरिक्त शेष सभी आगमों को प्रकीर्णकों में ही समाहित किया जाता था। इससे जैन आगम साहित्य में प्रकीर्णकों का क्या स्थान है, यह सिद्ध हो जाता है। प्राचीन दृष्टि

से तो अङ्ग आगमों के अतिरिक्त सम्पूर्ण जैन आगमिक साहित्य प्रकीर्णक वर्ग के अन्तर्गत आता है।^६

वर्तमान में मुनि पुण्यविजय जी ने **पड़ण्यसुताइं** (दो खण्ड) नामक ग्रन्थ के प्रथम भाग में (जैन आगम सम्बन्धित संक्षिप्त वक्तव्य, पृ० १८ में) २२ प्रकीर्णकों का उल्लेख किया है। चूँकि प्रकीर्णकों की कोई निश्चित नामावली नहीं है और यह कई प्रकार से गिने जाते हैं, निम्नलिखित २२ प्रकीर्णकों का सभी प्रकारों में से संग्रह किया गया है। ये हैं— (१) चउसरण, (२) आउरपच्चक्खान, (३) भत्तपरिण्णा, (४) संथारय, (५) तंदुलवेयालिय, (६) चन्दावेज्झय, (७) देविंदस्तव, (८) गणिविज्जा, (९) महापच्चक्खान, (१०) वीरथुई, (११) इसिभासियाई, (१२) अजीवकल्प, (१३) गच्छाचार, (१४) मरणसमाहि, (१५) तित्थोगाली, (१६) आराहणापडाया, (१७) दीवसागरपण्णत्ति, (१८) जोइसकरण्डय, (१९) अंगविज्जा, (२०) सिन्द्वापाहुड, (२१) सारावली और (२२) जीवविभत्ति।

परन्तु **पड़ण्यसुताइं** (दोनों भाग) में सम्पादक मुनि पुण्यविजय जी ने कुल ३२ प्रकीर्णकों को सङ्कलित किया है। इनमें से कुछ समान नाम वाले हैं पर इनके लेखक और काल भिन्न हैं। उपरोक्त बाइस प्रकीर्णकों के अलावा **पड़ण्यसुताइं** ग्रन्थ में जो अन्य प्रकीर्णक सङ्कलित हैं, वे हैं— (१) सकुसलापुवंधिअज्झयण-चउसरणपड़ण्यं अवरणामयं सिरिबीरभदायरियविरइयं च, (२) आउरपच्चक्खणं, (३) आउरपच्चक्खणपड़ण्यं-सिरिवीरभदाचरियविरइयं, (४) वीरभद्राचार्य विरचित आराहणापडाया, (५) आराहणासार अवरणामा पज्जंताराहणा, (६) आराहणापणगं, (७) सिरिअभयदेव सूरिपणीयं आराहणापयरणं, (८) जिणसेहरसावयं पई सुलससावयकाराविया आराहणा, (९) नन्दनमुनि आराधित आराधना, (१०) आराहणा कुलयं, (११) मिच्छादुक्कडकुलयं, (१२) आलोचनाकुलयं, (१३) अप्पविसोहिकुलयं।

उपरोक्त “जैन आगम सम्बन्धित संक्षिप्त वक्तव्य” में उल्लिखित २२ प्रकीर्णकों में चार ऐसे प्रकीर्णक हैं जो पड़ण्यसुताइं में सङ्कलित नहीं हैं— ये हैं— **अजीवकल्प**, **अङ्गविज्जा**, **सिन्द्वापाहुड** एवं **जीवविभत्ति**। इस प्रकार **पड़ण्यसुताइं** में कुल ३२ प्रकीर्णक हो जाते हैं। अब ये चार प्रकीर्णक क्यों नहीं सङ्कलित किये गये हैं इसका उल्लेख प्राप्त नहीं होता जबकि ये सब उपलब्ध हैं। ऐसा लगता है कि ये चारों अलग से प्रकाशित होने और कुछ बड़े होने के कारण यहाँ सङ्कलित नहीं किये गये। इसे भी मानें तो वर्तमान में उपलब्ध ३६ प्रकीर्णक हैं। दूसरी ओर ‘**प्रकीर्णक साहित्य : मनन और मीमांसा**’ नामक ग्रन्थ में एक लेख (प्रकीर्णकों की पाण्डुलिपियाँ और प्रकाशित संस्करण, लेखक जौहरीमल पारख) में दी गयी उपलब्ध प्रकीर्णकों की सूची में जो तीस प्रकीर्णक सूचीबद्ध हैं उनसे **पड़ण्यसुताइं** में सङ्कलित प्रकीर्णकों से भिन्नता है। इस सूची में दिये गये प्रकीर्णकों के नाम ये हैं— (१) **आतुरप्रत्याख्यान-वीरभद्र**, (२) **गप्पिविद्या**,

(३) कुशलाणुबंधिचतुःशरण-वीरभद्र, (४) चन्द्रवेध्यक, (५) तन्दुलवैचारिक, (६) देवेन्द्रस्तव-ऋषिपालित, (७) भक्तपरिज्ञा-वीरभद्र, (८) महाप्रत्याख्यान, (९) वीरस्तव, (१०) संस्तारक, (११) अङ्गविद्या, (१२) अजीवकल्प, (१३) आराधनापताका-वीरभद्र, (१४) गच्छाचार, (१५) ज्योतिषकरण्डक-पादलिप्त, (१६) तिथिप्रकीर्णक, (१७) तीर्थोद्गालिक, (१८) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, (१९) मरणसमाधि, (२०) सिद्धप्राभृत, (२१) अङ्गचूलिका-यशोभद्र, (२२) कवचजिनचन्द्र, (२३) जीवविभक्ति, (२४) पर्यन्ताराधना, (२५) पिण्डविशुद्धि-जिनवल्लभ, (२६) वङ्गचूलिका-यशोभद्र, (२७) योनिप्राभृत-धरसेन, (२८) सुप्रणिधान (वृद्ध) चतुःशरण, (२९) सारावली, (३०) जम्बूचरित्र (जम्बूपइन्ना) पद्मसूरी। जिन प्रकीर्णकों के आगे कर्ता का नाम नहीं है उनके कर्ता अज्ञात हैं। इसी लेख में प्रकाशित प्रकीर्णकों की दूसरी सूची में ऋषिभाषित का नाम भी है पर उसे सामान्य क्रम में नहीं रखा गया है। यदि हम उसे भी मानें तो यहाँ ३१ प्रकीर्णक हो जाते हैं। इनमें से तिथिप्रकीर्णक, अङ्गचूलिका, कवच, पिण्डविशुद्धि, बङ्गचूलिका, योनिप्राभृत एवं जम्बूचरित्र (जम्बूपइन्ना) इन सातों का उल्लेख पङ्णयसुताई में नहीं है। इन्हें भी शामिल कर लेने पर ३६ + ७ = ४३ उपलब्ध प्रकीर्णक हो जाते हैं।

विषयवस्तु

उपलब्ध प्रकीर्णकों में नन्दनमुनि आराधित आराधना (संस्कृत) प्रकीर्णक के अतिरिक्त समस्त प्रकीर्णक प्राकृत भाषा में रचे गये हैं, आकार की दृष्टि से सबसे छोटा आराधनाकुलक है जिनमें मात्र ८ गाथाएँ हैं और सबसे बड़े आकार का अङ्गविद्या है जिसमें ९००० ग्रन्थांक एवं ६० अधिकार हैं। इनमें आतुरप्रत्याख्यान नाम के तीन प्रकीर्णक हैं तथा चतुःशरण, आराधनापताका और मिथ्यादुष्कृतकुलक शीर्षक से दो-दो प्रकीर्णक हैं।

प्रकीर्णकों की विषयवस्तु को देखा जाये तो अधिकांश प्रकीर्णक समाधिमरण को प्रतिपादित करते हैं पर समाधिमरण के अतिरिक्त निमित्त, मुहूर्त, खगोल, भूगोल, जैन इतिहास, शरीरविज्ञान, गुरु-शिष्य सम्बन्ध आदि पर प्रकाश डालने वाले भी प्रकीर्णक हैं। यहाँ हम उपलब्ध प्रकीर्णकों की विषयवस्तु का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे। इसे दो भागों में विभक्त किया गया है। पहले समाधिमरण से सम्बन्धित प्रकीर्णकों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

१. समाधिमरण— आगममान्य दस प्रकीर्णकों में यह सबसे बड़ा है। इसमें ६६१ गाथाएँ हैं। ग्रन्थकार के अनुसार (१) मरण विभक्ति, (२) मरण विशोधि, (३) मरण समाधि, (४) संल्लेखनाश्रुत, (५) भक्तपरिज्ञा, (६) आतुरप्रत्याख्यान, (७) महाप्रत्याख्यान और (८) आराधना, इन आठ प्राचीन श्रुतग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत प्रकीर्णक की रचना हुई है। इसमें अन्त समय की आराधना का वर्णन है। इसके रचनाकार अज्ञात हैं। मरणसमाधि का उल्लेख नन्दी एवं पाक्षिकसूत्र में प्राप्त होता है। इसमें मरण के अतिरिक्त आचार्य के ३६ गुणों,

आलोचना के दोषों आदि का नाम सहित वर्णन किया गया है। इसका प्राकृत संस्करण बाबू धनपतसिंह मुर्शिदाबाद (ई० सन् १८८६), बालाभाई ककलभाई, अहमदाबाद (ई० सन् १९०६), जैनधर्म प्रसारक सभा (ई० सन् १९०६), आगमोदय समिति (ई० सन् १९२६, छायासहित); हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला (ई० सन् १९७५) और महावीर जैन विद्यालय, बम्बई (ई० सन् १९८४) से प्रकाशित हो चुका है। अभी तक इसका और हिन्दी अनुवाद प्रकाशित नहीं हुआ है।

२-४- आतुरप्रत्याख्यान— इस नाम से दो और प्रकीर्णक हैं। प्रस्तुत **आतुरप्रत्याख्यान** गद्य-पद्य मिश्रित है। इसमें सूत्रों और गाथाओं की कुल संख्या तीस है। इसमें शरीर के ममत्व त्याग, सांगार और निरागार प्रत्याख्यान तथा सभी जीवों के प्रति क्षमापना की गयी है। इसके लेखक अज्ञात हैं। दूसरे **आतुरप्रत्याख्यान** में कुल ३४ गाथाएँ हैं। इसके कर्ता भी अज्ञात हैं। इसमें उपोद्घात, अवरिति प्रत्याख्यान, मिथ्यादुष्कृत, ममत्वत्याग, शरीर के लिए उपालम्भ, शुभभावना, अरहन्तादि स्मरण, पापस्थानक त्याग आदि शीर्षक से विषय वर्णित है। तीसरे आतुरप्रत्याख्यान के कर्ता वीरभद्र हैं। इसमें कुल ७१ गाथाएँ हैं। इसमें मरण के बालमरण, बालपण्डित मरण और पण्डितमरण— तीन भेद कर विषय का प्रतिपादन किया गया है। ये तीनों आतुरप्रत्याख्यान (मूल) पङ्कणयसुत्ताई में सङ्कलित हैं। वीरभद्रकृत आतुरप्रत्याख्यान के प्रकाशित संस्करण बाबू धनपत सिंह मुर्शिदाबाद, बालाभाई ककलभाई अहमदाबाद, आगमोदय समिति, हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, जैनधर्म प्रसारक सभा—मुल्तान, ऋषि स्मारक समिति, धूलिया से मूल एवं तत्त्वविवेचनसभा (१९०१) से गुजराती, मनमोहन यशमाला, पायधुनी, मुम्बई (१९५०) से हिन्दी एवं मनमोहन यशस्मारक (१९३४) से गुजराती और हिन्दी अनुवाद के साथ है।

५- महाप्रत्याख्यान— इस प्रकीर्णक का उल्लेख **नन्दीसूत्र** तथा **पाक्षिकसूत्र** में उपलब्ध होता है। **नन्दीसूत्रचूर्ण**, हरिभद्रीय वृत्ति तथा पाक्षिकसूत्र वृत्ति में इस प्रकीर्णक का परिचय देते हुए कहा गया है “महाप्रत्याख्यानम् महच्च तत् प्रत्याख्यानं चेति समासः। थेरकप्पेण जिनकप्पेण वा विहरेत्ता अंते थेरकप्पिया बारस वासे संलेहं करेत्ता, जिणकप्पिया पुण विहारेणेव संलीढा तहावि जहाजुत्तं संलेहं करेत्ता निव्वाघात्तं सचेट्ठा चव भवचरिमं पच्चक्खंति, एवं सवित्थरं जत्थज्झयणे वण्णिज्ज तमज्झयणं महापच्चक्खणां।”^{१०} अर्थात् महाप्रत्याख्यान शब्द महान् और प्रत्याख्यान से बना है। स्थविरकल्पी और जिणकल्पी में स्थविरकल्पी विहार के अन्त में बारह वर्ष की सल्लेखना करते हैं, जिनकल्पी विहार के क्रम में जब जैसी आवश्यकता हो सल्लेखना ग्रहण कर लेते हैं और अन्त समय तक के लिए प्रत्याख्यान कर लेते हैं। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन जिस अध्ययन में हो वह महाप्रत्याख्यान है।

महाप्रत्याख्यान में कुल १४२ गाथाएँ हैं। इनमें मंगल अभिधेय के पश्चात् त्रिविधा व्युत्सर्जना, सर्वजीवक्षमणा, निन्दा-गर्हा आलोचना, ममत्वछेदन, आत्मा का स्वरूप, मूल

और उत्तर गुणों में प्रमाद की निन्दा, एकत्वभावना, संयोगसम्बन्ध व्युत्सर्जना, असंयम आदि की निन्दा, मिथ्यात्व का त्याग, अज्ञात अपराध की आलोचना का स्वरूप, शल्योद्धरण प्ररूपण, आलोचना का फल, निर्वेद उपदेश, पण्डितमरण का प्ररूपण, पञ्चमहाव्रत की रक्षा, तप का महात्म्य, अनाराधक का स्वरूप, आराधना का महात्म्य, पाप आदि का प्रत्याख्यान, सभी जीवों के प्रति क्षमाभाव, प्रत्याख्यान पालन के फल आदि का विस्तार से वर्णन है। वर्तमान में इसके प्रकाशित संस्करण हैं— बाबू धनपत सिंह-मुर्शिदाबाद, बालाभाई ककलभाई-अहमदाबाद, आगमोदय समिति, हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला एवं महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से मूल प्राकृत एवं आगम संस्थान उदयपुर से हिन्दी अनुवाद के साथ। इसके कर्ता अज्ञात हैं।

६- संस्तारक— इसके भी कर्ता अज्ञात हैं। अन्तिम आराधना के प्रसंग में स्वीकार किये जाने वाले दर्भादि आसन को संस्तारक कहा जाता है। इसमें कुल १२२ गाथाएँ हैं। संस्तारक में मंगलाचरण के बाद संस्तारक के गुणों, संस्तारक का स्वरूप, इसके लाभ और सुख की महिमा के वर्णन तथा संस्तारक ग्रहण करने वाले पुण्यात्माओं के नामोल्लेख हैं। अन्त में संस्तारक ग्रहण करने की क्षमापणा और भावना का निरूपण है। इस प्रकीर्णक के प्रकाशित सात संस्करण इस प्रकार हैं— बाबू धनपत सिंह-मुर्शिदाबाद, बालाभाई ककलभाई-अहमदाबाद, आगमोदय समिति, हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, जैनधर्म प्रसारक सभा से केवल मूल तथा आगम संस्थान, उदयपुर से हिन्दी अनुवाद के साथ।

७- चतुःशरण— प्रस्तुत प्रकीर्णक में कुल २७ गाथाएँ हैं। इसके कर्ता का कोई उल्लेख नहीं है। इसकी प्रथम गाथा में कुशलता हेतु चतुःशरणगमन, दुष्कृत गर्हा और सुकृत का अनुमोदन— इन तीन अधिकारों का निर्देश है। इसी के अनुसार विषय का प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ केवल महावीर जैन विद्यालय से ही प्रकाशित है।

८- भक्तपरिज्ञा— भक्तपरिज्ञा में १७२ गाथाएँ हैं। इसके कर्ता वीरभद्र हैं। इसमें मङ्गल-अभिधेय के पश्चात् ज्ञान का महात्म्य, अशाश्वत सुख की निष्फलता, जिनाराधना में शाश्वत सुख, अभ्युद्धत मरण के तीन भेद, भक्तपरिज्ञा मरण के दो भेद, शिष्य द्वारा व्याधिग्रस्त होने पर गुरु से भक्तपरिज्ञा मरण की अनुमति माँगना तथा गुरु द्वारा इसकी अनुमति के साथ आलोचना का उपदेश, प्रायश्चित्त पञ्चमहाव्रत का आरोपण, सामयिक का आरोपण, शिष्य द्वारा क्षमणादि, गुरु द्वारा अनुशासन का उपदेश आदि के विस्तृत वर्णन के पश्चात् भक्तपरिज्ञा के महात्म्य का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ बाबू धनपत सिंह-मुर्शिदाबाद, बालाभाई ककलभाई-अहमदाबाद, आगमोदय समिति, हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, महावीर जैन विद्यालय तथा जैनधर्म प्रसारक सभा से मूल रूप में प्रकाशित है।

९- चतुःशरण कुसलानुबन्धी— प्रस्तुत प्रकीर्णक आचार्य वीरभद्र की कृति है।

इसमें कुल ६३ गाथाएँ हैं। इसकी प्रथम गाथा में विषयवस्तु का नाम निर्देश इस प्रकार किया गया है— (क) सावधयोग की विरति, (ख) उत्कीर्तन, (ग) गुणियों के प्रति विनय, (घ) क्षति की निन्दा, (च) दोषों की चिकित्सा और (छ) गुणाराधना। पुनः इनका अलग-अलग निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् चतुर्दश स्वप्न का वर्णन, मङ्गल-अभिधेय, चतुशरण गमन, दुष्कृतगर्हा, सुकृतानुमोदन रूप तीन अधिकार हैं। इसके बाद अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवलिप्रज्ञप्त धर्म— इन चार आश्रयों का शरण लेने और जन्म-जन्मान्तर में आत्मा ने यदि कोई दुष्कृत आचरण किया हो तो उसकी निन्दा का निरूपण है। अन्त में चतुःशरण ग्रहण, दुष्कृतगर्हा, सुकृतानुमोदन का फल बताया गया है। यह प्रकीर्णक-बाबू धनपत सिंह मुर्शिदाबाद, बालाभाई ककलभाई-अहमदाबाद, आगमोदय समिति, हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, महावीर जैन विद्यालय एवं जैनधर्म प्रसारक सभा से मूल रूप में, तत्त्व विवेचक सभा से गुजराती, देवचन्द लालभाई फण्ड से संस्कृत, हीरालाल हंसराज-जामनगर से गुजराती तथा मनमोहन यशस्मारक से हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हो चुका है।

१०- प्राचीन आचार्य विरचित आराधनापताका— इस प्रकीर्णक में कुल ९३२ गाथाएँ हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ का वर्ण्यविषय, बत्तीस द्वारों में विभक्त है। ये हैं— (१) सल्लेखना द्वार, (२) परीक्षा द्वार, (३) निर्यामक द्वार, (४) योग्यत्व द्वार, (५) अगीतार्थ द्वार, (६) असंविग्न द्वार, (७) निर्जरणा द्वार, (८) स्थान द्वार, (९) वसति द्वार, (१०) संस्तार द्वार, (११) द्रव्यदान द्वार, (१२) समाधिमान विरेक द्वार, (१३) गणनिसर्ग द्वार, (१४) चैत्यवन्दन द्वार, (१५) आलोचना द्वार, (१६) व्रतोच्चार द्वार, (१७) चतुःशरण द्वार, (१८) दुःकृतगर्हा द्वार, (१९) सुकृतानुमोदना द्वार, (२०) जीवक्षमणा द्वार, (२१) स्वजनक्षमणा द्वार, (२२) संघक्षमणा द्वार, (२३) जिनवरादि क्षमणा द्वार, (२४) आशातनाप्रतिक्रमण द्वार, (२५) कायोत्सर्ग द्वार, (२६) शक्रस्तव द्वार, (२७) पापस्थानव्युत्सर्जन द्वार, (२८) अनशन द्वार, (२९) अनुशिष्टि द्वार, (३०) कवच द्वार, (३१) नमस्कार द्वार और (३२) आराधनाफल द्वार। इसमें उनतीसवाँ अनुशिष्टि द्वार १७ प्रतिद्वारों में विभक्त है— (१) मिथ्यात्व परित्यागानुशिष्टि प्रतिद्वार, (२) सम्यक्त्वसेवनानुशिष्टि प्रतिद्वार, (३) स्वाध्यायानुशिष्टि प्रतिद्वार, (४) पञ्चमहाव्रतरक्षानुशिष्टि प्रतिद्वार, (५) मदनग्रहानुशिष्टि प्रतिद्वार, (६) इन्द्रियविजयानुशिष्टि प्रतिद्वार, (७) कषायविजयानुशिष्टि प्रतिद्वार, (८) परिषहसहनानुशिष्टि प्रतिद्वार, (९) उपसर्गसहनानुशिष्टि प्रतिद्वार, (१०) प्रमाद अनुशिष्टि प्रतिद्वार, (११) तपश्चरणानुशिष्टि प्रतिद्वार, (१२) रागादिप्रतिशेषानुशिष्टि प्रतिद्वार, (१३) निदान वर्तनानुशिष्टि प्रतिद्वार, (१४) कुभावनात्यागानुशिष्टि प्रतिद्वार, (१५) सल्लेखना अतिचार परिहरणानुशिष्टि प्रतिद्वार, (१६) द्वादश शुभ भावनानुशिष्टि प्रतिद्वार और (१७) पच्चीस महाव्रत भावना अनुशिष्टि प्रतिद्वार। यह प्रकीर्णक महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से मूल रूप में पङ्णयसुताई में संगृहीत है।

११- आराधना पताका (वीरभद्र)— यह प्रकीर्णक आचार्य वीरभद्र रचित है। इसमें

९८९ गाथाएँ हैं। इसमें समाधिमरण का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। इस प्रकीर्णक में समाधिमरण के सविचार और अविचार दो भेद में से सविचार भक्त परिज्ञा मरण का विस्तृत विवेचन है। प्रारम्भ में मङ्गल-अभिधेय के बाद पीठिका है। पुनः पाँच प्रकार के मरण का प्ररूपण करने के बाद वर्णविषय को चार द्वार (१) परिकर्मविधिद्वार, (२) गणसंक्रमणद्वार, (३) ममत्वउच्छेद द्वार और (४) समाधिलाभ द्वार में वर्गीकृत कर पुनः क्रमशः ग्यारह, दस, दस और आठ प्रतिद्वार में विभक्त किया गया है। प्रथम परिकर्मविधिद्वार के ग्यारह प्रतिद्वार हैं- (१) अर्ह, (२) लिंग, (३) शिक्षा, (४) विनय, (५) समाधि, (६) अनियतविहार, (७) परिणाम, (८) त्याग, (९) निःश्रेणि, (१०) भावना, एवं (११) संलेखना। द्वितीय गणसंक्रमण द्वार के दस प्रतिद्वार हैं— (१) दिशा, (२) क्षमणा, (३) अनुशिष्टि, (४) परगणचर्या, (५) सुस्थितगवेषण, (६) उपसम्पदा, (७) परीक्षा, (८) प्रतिलेखा, (९) आपृच्छना एवं (१०) प्रतीच्छा। तृतीय ममत्व उच्छेदन द्वार के दस प्रतिद्वार हैं— (१) आलोचना, (२) गुण-दोष, (३) शय्या, (४) संस्तरक, (५) निगमिक, (६) दर्शन, (७) हानि, (८) प्रत्याख्यान, (९) क्षमणा, एवं (१०) क्षमणा। चतुर्थ समाधिलाभ द्वार के आठ प्रतिद्वार हैं— (१) अनुशिष्टि, (२) सारणा, (३) कवच, (४) समता, (५) ध्यान, (६) लेश्या, (७) आराधना फल और (८) विहान (परित्याग)।

सविचार भक्त परिज्ञा मरण के वर्णन के पश्चात् अविचार भक्त परिज्ञा मरण का निरूपण है। इसके (१) निरुद्ध, (२) निरुद्धतर और (३) परमनिरुद्ध— तीन भेद कहे गये हैं। जंघाबल के क्षीण हो जाने पर अथवा रोगादि के कारण कृश शरीर वाले साधु का गुफादि में होने वाला मरण निरुद्ध अविचार भक्त परिज्ञामरण है। व्याल, अग्नि, व्याघ्र, शूल, मूर्च्छा, विशूचिका आदि के कारण अपनी आयु को कम जानकर मुनि का गुफादि में मरण निरुद्धतर अविचार भक्त परिज्ञा मरण है। भिक्षु की वाणी वातादि के कारण अवरुद्ध होने पर आयु को समाप्त जानकर मृत्यु का शीघ्र वरण करना परमनिरुद्ध अविचार भक्त परिज्ञा मरण है।^८

भक्त परिज्ञा मरण के पश्चात् इंगिनीमरण का वर्णन किया गया है। इसका प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि भक्त परिज्ञा मरण में जो उपक्रम वर्णित हैं, वे ही उपक्रम यथायोग्य इंगिनीमरण में हैं। इसमें देव, मनुष्य आदि कृत उपसर्ग या किन्नर, किंपुरुष, देवकन्याएँ एवं सभी पुद्गल के दुःखरूप हो जाने पर भी आराधक विचलित हुए बिना स्वयं ही आकुंचन, प्रसारण उच्चारण की क्रियाएँ करता है।^९ इसके पश्चात् संक्षेप में पादपोषणमरण का वर्णन कर अन्त में आराधना-फल का प्रतिपादन किया गया है। प्रकाशित संस्करण— यह प्रकीर्णक केवल महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से (पङ्कणयसुत्ताई भाग-२) मूलरूप में प्रकाशित है।

१२- पर्यन्ताराधना— प्रस्तुत प्रकीर्णक अज्ञात मुनि की कृति है। इसमें कुल २६३ गाथाएँ हैं। इसका अपरनाम **आराधनासार** भी है। मङ्गलाचरण के पश्चात् विषयवस्तु का वर्णन २४ द्वारों में विभक्त कर लिया गया है। ये चौबीस द्वार हैं— (१) सल्लेखना,

(२) स्थान, (३) विकटना, (४) सम्यक्, (५) अणुव्रत, (६) गुणव्रत, (७) पापस्थान, (८) सागार, (९) चतुःशरणगमन, (१०) दुष्कृतगर्हा, (११) सुकृतानुमोदन, (१२) विषय, (१३) संघादि, (१४) चतुर्गति जीवक्षमणा, (१५) चैत्य-नमनोत्सर्ग, (१६) अनशन, (१७) अनुशिष्टि, (१८) भावना, (१९) कवच, (२०) नमस्कार, (२१) शुभध्यान, (२२) निदान, (२३) अतिचार और (२४) फलद्वार।

इसके प्रकाशित संस्करण हैं— (१) बालाभाई ककलभाई-अहमदाबाद (मूल), (२) महावीर जैन विद्यालय, बम्बई (मूल), (३) विजयसिद्धिसूरि ग्रन्थमाला (मूल), (४) मनमोहन यशमाला, मुम्बई (मूल तथा अंग्रेजी, हिन्दी अनुवाद) दो संस्करण।

१३- आराधना पञ्चक— प्रस्तुत प्रकीर्णक में ३३५ गाथाएँ हैं। यह प्रकीर्णक स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर उद्योतनसूरि के कुवल्यमाला से उद्धृत अंश है, परन्तु पङ्णयसुत्ताई, भाग-२ में प्रकीर्णक के रूप में सङ्कलित है। इसमें अन्तकृत केवलियों के नामनिर्देशपूर्वक कर्मक्षमणा का निरूपण किया गया है। इसके पश्चात् भगवान् महावीर की प्रेरणा से मणिरथ मुनि एवं दूसरे अन्य कामगजेन्द्र मुनि, वज्रगुप्तमुनि एवं स्वयम्भूदेव मुनि का संलेखनाग्रहण ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य की आराधना, पञ्चमहाव्रत, रक्षा-ममत्व त्याग, संवर्जीव क्षमापणा, दोषप्रतिक्रमण, पण्डितमरण की प्रेरणा से उसकी आराधना तथा उनके सिद्धिगमन का विस्तार से वर्णन किया गया है।

१४- आराधना प्रकरण— इस प्रकीर्णक के कर्ता अभयदेवसूरि हैं। इसमें ८५ गाथाएँ हैं। यह ग्रन्थ मरणविधि के छः द्वारों में विभक्त कर रचा गया है। छः द्वार हैं- (१) आलोचना द्वार, (२) व्रतोच्चार द्वार, (३) क्षमणाद्वार, (४) अनशनद्वार, (५) शुभभावना द्वार और (६) नमस्कार भावना द्वार। यह ग्रन्थ पङ्णयसुत्ताई के भाग-२ में मूलरूप में सङ्कलित है।

१५- जिनशेखर श्रावक प्रति सुलसाश्राविकारचित आराधना— इस प्रकीर्णक में ७४ गाथाएँ हैं। इसमें प्रत्यासन्न मरण-प्रेरणा अर्थात् अन्त सन्निकट होने पर अनशन की प्रेरणा, अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं का स्वरूप निरूपण एवं उनकी वन्दना, नमस्कार-माहात्म्य तथा मङ्गल चतुष्क, लोकोत्तम-चतुष्क, शरणचतुष्क, आलोचना और व्रतोच्चार का निर्देश है। अन्त में सर्वजीवों की क्षमापणा तथा वेदना सहने और अनशन करने का उपदेश है। यह प्रकीर्णक भी पङ्णयसुत्ताई भाग-२ में सङ्कलित है।

१६- नन्दनमुनि आराधित आराधना— इसमें कुल ४० गाथाएँ हैं। यह संस्कृत-भाषा में लिखा गया है। इस प्रकीर्णक में नन्दनमुनिकृत दुष्कृतगर्हा, सर्वजीव क्षमणा, शुभ भावना, चतुःशरण ग्रहण, पञ्चपरमेष्ठि नमस्कार, अनशन प्रतिपत्ति रूप छः प्रकार की आराधना का वर्णन किया गया है। इस प्रकीर्णक का भी एकमात्र संस्करण पङ्णयसुत्ताई में सङ्कलित है।

१७- आराधना कुलक— यह सभी प्रकीर्णकों में सबसे छोटा है। इसमें मात्र ८ गाथाएँ हैं। यह प्रकीर्णक व्रतोच्चार, जीवक्षामणा, पापस्थानत्याग, दुःकृत निन्दा, सुकृतानुमोदन, चतुःशरण ग्रहण, एकत्व भावना का निर्देश मात्र है। इसके कर्ता अज्ञात हैं तथा यह भी पङ्णयसुत्ताई में प्रकाशित है।

१८-१९- मिथ्यादुष्कृत कुलक— इस शीर्षक से दो प्रकीर्णक उपलब्ध हैं। दोनों के कर्ता अज्ञात हैं तथा दोनों का प्रारम्भ मङ्गलाचरण से न होकर विषय से है। एक में १५ तथा दूसरे में १७ गाथाएँ हैं। प्रथम में आराधक द्वारा चारों गतियों के सभी जीवों से अलग-अलग क्षमापणा की गयी है। इसमें पञ्चपरमेष्ठी की निन्दा, दर्शन-ज्ञान-चारित्र और सम्यक्त्व की विराधना, चतुर्विध संघ की अवमानना, महाव्रतों और अणुव्रतों के प्रति स्वलना आदि की निन्दा है।

दूसरे में आराधक द्वारा संसार-चक्र में विविध योनियों में भ्रमण करते समय जिन-जिन प्राणियों को दुःख दिया गया उनके प्रति क्षमापणा की गयी है। विभिन्न भवों के परिजनों के त्याग के प्रति, राग-द्वेषवश हुए एकेन्द्रिय जीवों का वध, मृषावाद भाषण, परिग्रह, मिथ्यात्व मोह से मूढ़ हो साधु-सेवा, सधार्मिक वात्सल्य एवं चतुर्विध संघ की अभक्ति के प्रति मिथ्यादुष्कृत किया गया है। ये दोनों प्रकीर्णक भी पङ्णयसुत्ताई में सङ्कलित हैं।

२०- आलोचनाकुलक— इसमें १२ गाथाएँ हैं। इसके कर्ता अज्ञात हैं। इसमें विविध प्रकार के दुष्कृतों की आलोचना की गयी है तथा आलोचना का माहात्म्य बताया गया है। इस ग्रन्थ का भी प्रकाशन पङ्णयसुत्ताई में हुआ है।

२१- आत्मविशोधिकुलक— इस प्रकीर्णक में भी लोक के समस्त प्राणियों के प्रति हुए समस्त प्रकार के दुष्कृत्यों की निन्दा की गयी है। इसमें आहार और समस्त शारीरिक क्रियाओं के त्याग का निर्देश है। अन्त में आलोचना द्वारा आत्म विशुद्धि का माहात्म्य बताया गया है। इसमें कुल २४ गाथाएँ हैं और इसका भी एकमात्र संस्करण पङ्णयसुत्ताई में है।

२२- कवच— यह प्रकीर्णक जिनचन्द्रसूरि की रचना है और प्राचीन आगम आलापकों का सङ्कलन होने से प्रामाणिक है। इनका अभी तक मुद्रण-प्रकाशन नहीं हुआ है। इसमें १२९ गाथाएँ हैं। इसमें पण्डितमरण से सम्बन्धित विषय का प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार उपलब्ध प्रकीर्णकों में २२ ऐसे हैं जिनमें किसी न किसी प्रकार से समाधिमरण से सम्बन्धित विषयवस्तु ही प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त जो प्रकीर्णक हैं, वे भिन्न-भिन्न विषयों को लेकर रचे गये हैं। उनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है।

२३- देवेन्द्रस्तव— प्रस्तुत प्रकीर्णक स्थविर ऋषिपालित की कृति है। इसका निर्देश

नन्दीसूत्र और **पाक्षिकसूत्र** में प्राप्त होता है। इसमें कुल ३११ गाथाएँ हैं। ग्रन्थ का प्रारम्भ तीर्थङ्कर ऋषभ से लेकर महावीर तक की स्तुति से किया गया है। तत्पश्चात् बत्तीस देवेन्द्रों का क्रमशः विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। इनमें असुरकुमार, नागकुमार, सुवर्णकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिशाकुमार, वायुकुमार, स्तनितकुमार, विद्युतकुमार और अग्निकुमार- दस भवनपतिदेवों, चमरेन्द्र, धरणेन्द्र आदि बीस भवनपति इन्द्रों का नामोल्लेख है।^{१०} तत्पश्चात् इनकी स्थिति, आयु, भवन संख्या एवं आवास आदि का निरूपण है। इसके पश्चात् वाणव्यन्तरो, ज्योतिष्कों, वैमानिकों एवं अन्त में सिद्धों का विस्तार से वर्णन है। इसके संस्करण धनपतसिंह बाबू-मुर्शिदाबाद, बालाभाई ककलभाई-अहमदाबाद, आगमोदय समिति, हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, महावीर जैन विद्यालय से मूल एवं आगम संस्थान उदयपुर से हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित है।

२४- तन्दुलवैचारिक— यह प्रकीर्णक गद्य-पद्य मिश्रित है। इसमें सूत्रों और गाथाओं की कुल संख्या १७७ है। इसके गद्य भाग **भगवतीसूत्र** से भी लिये गये हैं। इसका उल्लेख उत्कालिक सूत्र के अन्तर्गत है। **तन्दुलवैचारिक प्रकीर्णक** में मुख्य रूप से मानव जीवन के सभी पक्षों- गर्भावस्था, मानव शरीर रचना, उसकी सौ वर्ष की आयु के दस विभाग (१) बाला, (२) क्रीड़ा, (३) मन्दा, (४) बला, (५) प्रज्ञा, (६) हायणी, (७) प्रपञ्चा, (८) प्राग्भारा, (९) मुन्मुखी और (१०) शायनी, उनमें होने वाली शारीरिक स्थितियाँ एवं उसके आहार आदि के बारे में विस्तृत विवेचन किया गया है। स्त्रियों के दुर्गुणों को प्रतिपादित करने के उपरान्त अन्त में धर्म के माहात्म्य को स्थापित किया गया है। यह ग्रन्थ धनपत सिंह-मुर्शिदाबाद, बालाभाई ककलभाई- अहमदाबाद, आगमोदय समिति, हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला एवं महावीर जैन विद्यालय- बम्बई से मूल रूप में एवं देवचन्द्र लालभाई फण्ड से संस्कृत, सेठिया पारमर्थिक संस्था-बीकानेर से संस्कृत, हिन्दी; हेम्बर्ग से संस्कृत एवं आगम संस्थान, उदयपुर से हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित है।

२५- चन्द्रकवेधक— इसमें १७५ गाथाएँ हैं। जैसाकि इसके नाम से स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ में आचार के जो नियम बताये गये हैं उनका पालन कर पाना चन्द्रकवेध (राध-वेध) के समान ही कठिन है। जिस प्रकार प्रवीण धनुर्धारी यन्त्र में फिरती पुतली की आँख भेदने में समर्थ है वैसे ही अप्रमत्त साधक दुर्गति को दूर हटा देता है। इस ग्रन्थ के कर्ता अज्ञात हैं। इसके निम्नलिखित प्रकाशित संस्करण हैं— बाबू धनपत सिंह-मुर्शिदाबाद, हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, महावीर जैन विद्यालय से मूल, केसरबाई ज्ञानमन्दिर, पाटण से संस्कृत, पेरिस से अंग्रेजी, कलापूर्णसूरि से गुजराती एवं आगम संस्थान, उदयपुर से हिन्दी अनुवाद के साथ।

२६- गणिविद्या— इसमें ८६ गाथाएँ हैं। इसके रचनाकार अज्ञात हैं। इस प्रकीर्णक का परिचय **नन्दीसूत्रचूर्ण** में इस प्रकार है— गण अर्थात् बाल और वृद्ध मुनियों का गच्छ; वह गण जिसके नियन्त्रण में है वह गणि; विद्या का अर्थ है ज्ञान। ज्योतिष-निमित्त विषय के

ज्ञान से दीक्षा, सामायिक ब्रतोपस्थापना, श्रुत सम्बन्धित उद्देश्य समुदेश की अनुज्ञा, गण का आरोपण, दिशा की अनुज्ञा तथा क्षेत्र से निर्गमन और प्रवेश आदि कार्य जिस तिथि, करण, नक्षत्र, मुहूर्त और योग में करने के लिये निर्देश जिस अध्ययन में है, वह गणिविद्या है।^{१९}

प्रस्तुत ग्रन्थ में दिवस, तिथि, नक्षत्र, करण, ग्रह, मुहूर्त, शकुनबल, लग्नबल और निमित्तबल— इन नौ विषयों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है। यह प्रकीर्णक मूलरूप में बाबू धनपत सिंह-मुर्शिदाबाद, बालाभाई ककलभाई-अहमदाबाद, आगमोदय समिति, हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला तथा महावीर जैन विद्यालय से मूल, हेम्बर्ग से संस्कृत और आगम संस्थान उदयपुर से हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित है।

२७- ऋषिभाषित— प्रस्तुत प्रकीर्णक ४५ अध्ययनों में विभक्त है। इन पैतालिस अध्यायों में से प्रत्येक में एक ऋषि का उपदेश सङ्कलित है। इस प्रकार यह ग्रन्थ पैतालीस ऋषियों के उपदेशों का सङ्कलन है। जिस अध्याय में जिस ऋषि का उपदेश है वह अध्याय उन्हीं के नाम से है। ये पैतालीस अध्याय या ऋषि निम्न हैं—

(१) देवर्षि नारद, (२) बज्जीयपुत्र (वात्सीय पुत्र), (३) असितदेवल, (४) अंगिरस भारद्वाज, (५) पुष्पशाल पुत्र, (६) बल्ललचीरी, (७) कुम्भापुत्र, (८) केतलीपुत्र, (९) महाकश्यप, (१०) तेतलीपुत्र, (११) मंखलिपुत्र, (१२) याज्ञवल्क्य, (१३) मतेज्ज भयालि, (१४) बाहुक, (१५) मधुरायन, (१६) शौर्यायण, (१७) विदुर, (१८) वारिषेणकृष्ण, (१९) आरियायन, (२०) उत्कट, (२१) गाथापतिपुत्र तरुण, (२२) गर्दभालि, (२३) रामपुत्र, (२४) हरिगिरि, (२५) अम्बड परिव्राजक, (२६) मातङ्ग, (२७) वास्तव, (२८) आर्द्रक, (२९) वर्द्धमान, (३०) वायु, (३१) अर्हत्पार्श्व, (३२) पिंग, (३३) महाशालपुत्र अरुण, (३४) ऋषिगिरि, (३५) उद्दालक, (३६) नारायण, (३७) श्रीगिरि, (३८) सारिपुत्र, (३०) संजय ऋषि, (४०) द्वैपायन ऋषि, (४१) इन्द्रनाग, (४२) सोम, (४३) यम, (४४) वरुण और (४५) वैश्रमण। प्रस्तुत प्रकीर्णक प्राचीनतम है। इसका नाम निर्देश समवायाङ्ग में भी प्राप्त होता है। अब तक इसके प्रकाशित संस्करण हैं— महावीर जैन विद्यालय एवं ऋषभदेव केसरीमल, रतलाम से मूल तथा लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद से संस्कृत, अंग्रेजी तथा सुधर्मज्ञान मन्दिर, बम्बई एवं प्राकृत भारती, जयपुर से हिन्दी अनुवाद के साथ।

२८- द्वीपसागरप्रज्ञप्ति— प्रस्तुत प्रकीर्णक में २२५ गाथाएँ हैं। इसके कर्ता अज्ञात हैं। इसमें मनुष्य क्षेत्र अर्थात् ढाई द्वीप के आगे के द्वीप एवं सागरों की संरचना का वर्णन किया गया है। इसमें मानुषोत्तर पर्वत, नलिनोदक आदि सागर, नन्दीश्वर द्वीप, अंजन पर्वत, दधिमुख पर्वत, रतिकर पर्वत, कुण्डलद्वीप, कुण्डल पर्वत, कुण्डल समुद्र, रूचक द्वीप, रूचक नग, रूचक नग के कूट, दिशा कुमारियाँ एवम् उनके स्थान, दिग्गजेन्द्र, जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवण समुद्र आदि समुद्रों के अधिपति देव, तेगिच्छी पर्वत एवं चमरचंचा

राजधानी का विस्तार से निरूपण किया गया है। इस प्रकीर्णक के प्रकाशित संस्करण हैं— महावीर जैन विद्यालय से मूल तथा चन्दनसागर ज्ञान भण्डार, बैजलपुर एवं आगम संस्थान, उदयपुर से हिन्दी अनुवाद के साथ।

२९ - वीरस्तव— प्रस्तुत प्रकीर्णक में ४३ गाथाएँ हैं। इसमें महावीर की स्तुति उनके छब्बीस नामों द्वारा की गयी है। प्रथम गाथा में मङ्गल और अभिधेय है। तत्पश्चात् महावीर के छब्बीस नामों को गिनाया गया है, जो इस प्रकार हैं— (१) अरूह, (२) अरिहन्त, (३) अरहन्त, (४) देव, (५) जिण, (६) वीर, (७) परमकारुणिक, (८) सर्वज्ञ, (९) सर्वदर्शी, (१०) पारग, (११) त्रिकालविद्, (१२) नाथ, (१३) वीतराग, (१४) केवली, (१५) त्रिभुवन गुरु, (१६) सर्व, (१७) त्रिभुवन वरिष्ठ, (१८) भगवन्, (१९) तीर्थङ्कर, (२०) शक्र-नमस्कृत, (२१) जिनेन्द्र, (२२) वर्द्धमान, (२३) हरि, (२४) हर, (२५) कमलासन, और (२६) बुद्ध। इसके आगे इन नामों का अन्वयार्थ किया गया है। इनमें अरिहन्त के तीन अरहन्त के चार, भगवान् के दो तथा शेष के एक-एक अन्वयार्थ हैं। इस ग्रन्थ के प्रकाशित संस्करण हैं— हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला एवं महावीर जैन विद्यालय से मूल तथा आगम संस्थान उदयपुर से हिन्दी अनुवाद के साथ।

३० - गच्छाचार— इस प्रकीर्णक में १३७ गाथाएँ हैं। यह प्रकीर्णक छेद सूत्रों के आधार पर रचा गया है। यह ग्रन्थ आगम-विहित मुनि-आचार का समर्थक और शिथिलाचार का विरोधी है। इस ग्रन्थ का उल्लेख सर्वप्रथम विधिमार्गप्रपा (जिनप्रभ, १४वीं शताब्दी) में प्राप्त होता है। इसमें मङ्गल-अभिधेय के पश्चात् उन्मार्गागामीगच्छ में संवास से हानि, सदाचारीगच्छ में संवास के गुण, आचार्यस्वरूप का वर्णन, साधुस्वरूप का वर्णन, आर्यास्वरूप का वर्णन कर अन्त में ग्रन्थ का उपसंहार किया गया है। प्रस्तुत प्रकीर्णक के प्रकाशित सात संस्करण हैं। ये हैं- बालाभाई ककलभाई, अहमदाबाद; आगमोदय समिति; हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला तथा महावीर जैन विद्यालय से मूल रूप में और दयाविमल जैन ग्रन्थमाला से संस्कृत, भूपेन्द्र साहित्य समिति, आहोर से संस्कृत एवं हिन्दी तथा आगम संस्थान उदयपुर से हिन्दी अनुवादसहित।

३१ - सारावली— इसमें ११६ गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ में पुण्डरीक अर्थात् शत्रुञ्जय तीर्थ का स्तवन किया गया है, इसके प्रारम्भ में कहा गया है कि जिस भूमि पर पञ्चपरमेष्ठियों का विचरण होता है, उसे देव और मनुष्यों के लिए पूज्य माना जाता है।^{१२} धातकी खण्ड के नारद ऋषि दक्षिण भरत क्षेत्र में स्थित पुण्डरीक शिखर पर देवों का प्रकाश देखकर पुण्डरीक शिखर की पूजा का कारण ज्ञात करने के उद्देश्य से अतिमुक्तक कुमार के पास जाते हैं। अतिमुक्तक कुमार केवल से जिज्ञासा करने पर वे इसकी उत्पत्ति, पूज्य होने और पुण्डरीक नाम पड़ने का कारण बताते हैं। तीर्थोत्पत्ति की कथा के पश्चात् यहाँ सिद्ध होने वाले अनेक आत्माओं का वर्णन है। पुण्डरीक पर्वत की महिमा, दान अर्थात् जीव के प्रति दया का फल, इसमें दान न देने से दुःख और दान देने से सुख की प्राप्ति का विवेचन है। अन्त

में सारावली प्रकीर्णक के लेखन का फल बताया गया है। इसका एकमात्र प्रकाशित संस्करण महावीर जैन विद्यालय के **पड़ण्यसुत्ताइं** में है।

३२- ज्योतिषकरण्डक— इस प्रकीर्णक के वृत्तिकार मलयगिरि की वृत्ति के अन्तःसाक्ष्य से मुनि पुण्यविजय जी ने निष्कर्ष निकाला है कि यह पादलिप्ताचार्य की रचना है। इसमें ४०५ गाथाएँ हैं। इसमें ज्योतिष सम्बन्धी २३ अधिकार हैं, जो निम्न हैं—

(१) काल प्रमाण, (२) मान अधिकार, (३) अधिकमास निष्पत्ति, (४) अवमरात्र, (५-६) पर्व-तिथि समाप्ति, (७) नक्षत्र परिमाण, (८) चन्द्र-सूर्य परिमाण, (९) नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य गति, (१०) नक्षत्र-योग, (११) मण्डलविभाग, (१२) अयन, (१३) आवृत्ति, (१४) मण्डल मुहूर्तगति, (१५) ऋतुपरिमाण, (१६) विषुक्त प्राभृत, (१७) व्यतिपातप्राभृत, (१८) ताप क्षेत्र, (१९) दिवस-वृद्धि हानि, (२०) अमावस्या, (२१) पूर्णिमा-प्राभृत, (२२) प्रणष्टपर्व एवं (२३) पौरुषी परिमाण। यह ग्रन्थ जैनधर्म प्रसारक सभा एवं ऋषभदेव केसरीमल, रतलाम से मूल एवं संस्कृत वृत्ति के साथ प्रकाशित है।

३३- तित्थोगाली— प्रस्तुत प्रकीर्णक का उल्लेख सर्वप्रथम **व्यवहारभाष्य** (छठी शताब्दी) में प्राप्त होता है। इसकी किसी प्रति में १२३३ और किसी में १२६१ गाथाएँ प्राप्त होती हैं। इसमें वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव से लेकर चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर तक के विवरण के साथ ही भरत, ऐरावत आदि दस क्षेत्रों में एक साथ उत्पन्न होने वाले दस-दस तीर्थङ्करों का विवेचन किया गया है। इसमें उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल और उसके छः-छः आरों का विस्तृत निरूपण किया गया है। अवसर्पिणी काल में प्रत्येक आरे में मनुष्यों की आयु, शरीर की शक्ति, ऊँचाई, बुद्धि, शौर्य आदि का क्रमशः ह्रास बतलाया गया है। ग्रन्थ में चौबीस तीर्थङ्करों, बलदेव, वासुदेव आदि शलाकापुरुषों के पूर्वभवों के नाम, उनके माता-पिता, आचार्य, नगर आदि का वर्णन है। ग्रन्थानुसार जिस रात्रि में तीर्थङ्कर महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए, उसी रात्रि में पालक राजा का राज्याभिषेक हुआ। इसमें पालक, मरुत, पुष्पमित्र, बलमित्र, भानुमित्र, नभःसेन, गर्दभ एवं दुष्टबुद्धि राजा के जन्म एवं उन सभी के राज्यों का वर्णन है, जो इतिहास की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है। इसमें जैन कला, खगोल, भूगोल का भी वर्णन है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्वेताम्बर-परम्परा में यही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसमें आगम ज्ञान के क्रमिक उच्छेद की बात कही गयी है। इसमें तीर्थङ्कर महावीर से लेकर भद्रबाहु स्वामी तथा स्थूलभद्र तक की पट्ट-परम्परा का उल्लेख किया गया है। अन्त में बारह आरों, विविध धर्मोपदेश और सिद्धों का स्वरूप विस्तृत रूप से निरूपित है। प्रस्तुत प्रकीर्णक महावीर जैन विद्यालय से मूल एवं कल्याणविजयगणि, जालौर से हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित है।

३४- अङ्गविद्या— भारतीय वाङ्मय में यह अपने ही तरह का ग्रन्थ है। इसमें कुल ९००० ग्र० एवं ६० अध्ययन हैं। इसमें मनुष्य की शारीरिक क्रिया व चेष्टा के आधार

पर फलादेश दिये गये हैं। यह मानस व अङ्गशास्त्र निमित्त की अतिदीर्घकाय रचना है। इसके कर्ता अज्ञात हैं। इस पर हरिभद्र की वृत्ति है। इसका एकमात्र प्रकाशित संस्करण प्राकृत ग्रन्थ परिषद् का है। प्रो० वासुदेवशरण अग्रवाल ने (यतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ) उसकी भूमिका में इस पर एक विस्तृत और महत्त्वपूर्ण लेख है और जो अङ्गविद्या के सभी पक्षों का गम्भीर विश्लेषण करता है।

३५- अजीवकल्प*— यद्यपि महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से प्रकाशित **पङ्कणयसुताङ्ग** की प्रस्तावना में २२ प्रकीर्णकों में इसका नाम है, परन्तु यह मुद्रित नहीं हैं। अन्य कोई दूसरा संस्करण भी प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि जैसलमेर, पाटण आदि भण्डारों में इसकी प्रतियाँ हैं। इसका वर्ण्यविषय साधु-समाचारी (एषणा समिति) है।

३६- तिथिप्रकीर्णक— जैन ग्रन्थावली में इसका पूना में उपलब्ध होना बतलाया गया है, पर कहीं भी इसकी खोज नहीं की जा सकी है।

३७- सिन्द्रप्राभृत— वृत्ति सहित इसकी मूल प्रतियाँ खम्भात व जैसलमेर के भण्डारों में प्राप्य हैं। इसका संस्करण- आत्मानन्द सभा, भावगर से भी प्रकाशित है। इसमें १२० गाथाएँ हैं। इसमें शीर्षकानुसार ही सिद्धों का वर्णन किया गया है।

३८- अङ्गचूलिका— इसमें ८०० ग्रन्थाङ्क (श्लोक) हैं। यह यशोभद्र की रचना है। इसका उल्लेख ठाणाङ्ग, व्यवहार, नन्दीसूत्र व पाक्षिकसूत्र में प्राप्त होता है, पर यह अभी तक अमुद्रित है। इसकी प्रतियाँ कई ग्रन्थ भण्डारों में भी उपलब्ध हैं। इसमें साधु द्वारा आगम स्वाध्याय विधि-नियम और उसकी विषयवस्तु का वर्णन है। उपाध्याय यशोविजय जी आदि ने इसके आधार पर सज्जायों की रचना की है।^{१३}

३९- जीवविभक्ति— इसमें २५ गाथाएँ हैं। यह भी अभी अप्रकाशित है। इसके कर्ता जिनचन्द्रसूरि हैं। इसमें शीर्षकानुसार थोकड़े दिये गये हैं।

४०- पिण्डविशुद्धि— प्रस्तुत प्रकीर्णक आचार्य जिनवल्लभ की कृति है। इसमें १०३ गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ में साधु आहार एवं समाचारी नियम का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस पर यशोदेव, उदयसिंह, चन्द्रसूरि एवं कनककुशल की वृत्ति है। इसके संस्करण-विजयदान ग्रन्थमाला, सूरत से संस्कृत; जिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार; मुम्बई से गुजराती एवं मनमोहन यशमाला, मुम्बई से संस्कृत अनुवाद के साथ प्रकाशित हैं।

४१- बङ्गचूलिका— इसमें १०९ गाथाएँ हैं। यह यशोभद्र की रचना है। इसका एकमात्र संस्करण के०एम० मडयाता, फलौदी से प्रकाशित है। जौहरीमल पारख के अनुसार इसका मुद्रित पाठ सन्तोषजनक नहीं है।^{१४}

*. विषयवस्तु के आधार पर इसका नाम आजीवकल्प होना चाहिये। — सम्पादक.

४२- योनिप्राभूत— इसके ग्रन्थाङ्क ८०० (श्लोक ३२ अक्षर का) हैं। यह आचार्य धरसेन की रचना है और श्वेताम्बरों में प्रकीर्णक रूप में मान्य है। इसकी एकमात्र ताड़पत्रीय प्रति पूना में खण्डित अवस्था में है। विषयवस्तु शीर्षकानुसार है।^{१५}

४३- जम्बूचरितप्रकीर्णक— इस नाम के दो ग्रन्थ हैं। एक जम्बूस्वामी का चरित्र है, जो ३१ अध्यायों में पद्मसुन्दर द्वारा सङ्कलित है। बहुत से विद्वान् इसे ही प्रकीर्णक मानने के पक्ष में हैं। दूसरा ग्रन्थ **जम्बूप्रकरण** या **जम्बूद्वीपसमास** के नाम से मिलता है। इसमें जम्बूद्वीप का भूगोल है। इसकी कई प्रतियाँ विभिन्न ग्रन्थ भण्डारों में हैं। इसमें १२७ माथाएँ हैं। इन दोनों में से किसी का मुद्रण अभी तक नहीं हुआ है। **जिनरत्नकोश** में **जम्बूचरित्र** के तीन और नाम मिलते हैं— आलापकस्वरूप, जम्बूदृष्टान्त और जम्बूअध्ययन, जो प्रकीर्णक होने के द्योतक हैं।^{१६}

उपरोक्त ४३ प्रकीर्णकों के अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रकीर्णक हैं जो वर्तमान में प्राप्त नहीं हैं। यद्यपि उनके नाम यत्र-तत्र मिलते हैं। इनकी संख्या ४५ है। इनके नाम व प्रमाणभूत ग्रन्थों का विवरण निम्नप्रकार है—

नाम	प्रमाणभूत ग्रन्थ
४४- अरुणोपपात	ठा० नं० पा० व्य०
४५- आत्मविभक्ति	पा० योगनन्दी
४६- आत्मविशुद्धि	नं०, पा०
४७- उत्थानश्रुत	व्य०, नं०, प्रा०
४८- आशी विभावना	व्य०, पा०, योगनन्दी
४९- कल्पाकल्प	नं०, पा०, ध०
५०- कल्पिका	नं०, पा०
५१- कृतिकर्म	ध०, ९७
५२- क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्ति	ठा०, नं०, पा०, व्य०
५३- गरुडोपपात	ठा०, नं०, पा०, व्य०
५४- चरणविधि	नं०, पा०
५५- चरणस्वप्नभावना	व्य०, पा०, योगनन्दी
५६- चुल्लकल्पश्रुत	नं०, पा०
५७- तेजोनिर्गम	व्य०, पा०, योगनन्दी

६० : श्रमण/जनवरी-जून २००२ संयुक्तांक

५८- दीर्घदशा	ठा० ७५५
५९- दृष्टिविषभावना	व्य०, पा०, योगनन्दी
६०- देवेन्द्रोपपात	व्य०, नं०, पा०
६१- द्विगिद्धिदिशा	ठा० ७५५
६२- धरणोपपात	व्य०, नं०, पा०
६३- ध्यानविभक्ति	नं०, पा०
६४- नागपरिज्ञापनिका	व्य०, नं०, पा०
६५- पुण्डरीक	ध०
६६- पोरुषीमण्डल	नं०, पा०
६७- प्रमादाप्रमाद	नं०, पा०
६८- बन्धदशा	ठा० ७५५
६९- मण्डलप्रवेश	नं०, पा०
७०- मरणविशुद्धि	योगनन्दी
७१- महतीविमानप्रविभक्ति	व्य०, नं०, पा०, ठा०
७२- महाकल्पश्रुत	नं०, पा०, ध०
७३- महापुण्डरीक	ध०
७४- महाप्रज्ञापना	नं०, पा०
७५- महास्वप्नभावना	व्य०, पा०, योगनन्दी
७६- वरुणोपपात	व्य०, नं०, पा०, ठा०
७७- विद्याचरणविनिश्चय	नं०, पा०
७८- विहारकल्प	नं०, पा०
७९- वीतरागश्रुत	नं०, पा०
८०- वृष्णिका	नं०, पा०, योगनन्दी
८१- वेलन्धरोपपात	व्य०, नं०, पा०, ठा०
८२- वैनयिक	ध०

८३- वैश्रमणोपपात	न०, पा०, ध०, ठा०
८४- वियाहचूलिका	व्य०, न०, पा०, ध०, ठा०
८५- संक्षपित दशा	ठा० ७५५
८६- संग्रहणी	विधि०
८७- समुत्थानश्रुत	व्य०, न०, पा०, और
८८- संलेखना	न०, पा०।

संक्षिप्त नाम संकेत-सूची

ठा० = ठाणांग, न० = नन्दीसूत्र, व्य० = व्यवहार, ध० = धवला, विधि० = विधिमागप्रपा, पा० = पाक्षिकसूत्र

इस प्रकार कुल उपलब्ध और अनुपलब्ध (पर प्रमाणसहित) प्रकीर्णकों की कुल संख्या ८८ है।

वर्तमान में श्वेताम्बर तेरापंथी और स्थानकवासी सम्प्रदाय प्रकीर्णकों को आगम-साहित्य के अन्तर्गत मान्य नहीं करते हैं तथा मूर्तिपूजक सम्प्रदाय भी केवल दस प्रकीर्णक को ही आगमों के अन्तर्गत मान्य करता है। दिग्म्बर सम्प्रदाय के अनुसार षट्खण्डागम और कसायपाहुड को छोड़ शेष आगमों का लोप हो चुका है। इन परिस्थितियों में प्रकीर्णक साहित्य का अधिकांश भाग उपेक्षित रहा है। कुछ ही प्रकीर्णकों का अनुवाद सीमित संस्थानों द्वारा हो पाया है यद्यपि इसके बृहद् अध्ययन की आवश्यकता है। ऋषिभाषित पर जर्मनी से प्रकाशित संस्करण में शुब्रिग ने इसकी भूमिका में इसके ऐतिहासिक महत्त्व पर प्रकाश डाला है। प्रो० सागरमल जैन ने भी अपनी पुस्तक ऋषिभाषित : एक अध्ययन में भी जैन-साहित्य के ऐतिहासिक विकासक्रम में प्रस्तुत प्रकीर्णक की महत्त्वपूर्ण भूमिका को उजागर किया है। इनकी विषयवस्तु के अध्ययन से लगता है कि अङ्ग आगमों की अपेक्षा साधना की दृष्टि से ये काफी महत्त्वपूर्ण हैं। प्रकीर्णकों के अध्ययन की दिशा में कोई प्रयास न होने की वजह से इनमें से अधिकांश नष्ट होने के कगार पर हैं या हो गये हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इन प्रकीर्णकों के खोज, सम्पादन, प्रकाशन, पाठ की प्रामाणिकता, हिन्दी सहित विभिन्न भाषाओं में अनुवाद तथा इसके गम्भीर समीक्षात्मक अध्ययन की बृहद् योजना बनाकर इस दिशा में कार्य हो। फिलहाल आगम, अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान उदयपुर द्वारा प्रकीर्णकों के हिन्दी अनुवाद का कार्य हाथ में लिया गया है लेकिन इनके विषय की व्यापकता को देखते हुए इस दिशा में और भी प्रयास होने की जरूरत है जिससे जैन-प्राकृत-साहित्य और इस प्रकार भारतीय साहित्य के एक पक्ष को समग्रता में प्रस्तुत किया जा सकता है।

सन्दर्भ- सूची

१. **समवायाङ्ग**, सम्पादक-मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर १९८२ ईस्वी, समवाय ८४.
२. वही, समवाय १४.
३. प्रो० सागरमल जैन एवं सुरेश सिसोदिया, सम्पा०- **प्रकीर्णक साहित्य : मनन और मीमांसा**, उदयपुर १९९६ ईस्वी, पृ० २.
४. **धवला**, पुस्तक १३, खण्ड ५, भाग ५, सूत्र ४८, पृ० २७६, उद्धृत **जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश**, भाग ४, पृ० ७०.
५. वही, पृ० ७०.
६. द्रष्टव्य, सन्दर्भ क्रमांक ३.
७. **नन्दिसूत्रचूर्णि**, अहमदाबाद, १९६६ ई०, पृ० ५८; **नन्दिसूत्रवृत्ति**, पृ० ७२; **पाक्षिकसूत्रवृत्ति**, पत्र ९५.
८. सिरिवीरभद्रायरियविरइया 'आराहणापडाया', **पइण्णयसुत्ताइं**, भाग २, गाथा ८९४-९०३.
९. वही, गाथा ९०४-९२१.
१०. 'देवेन्द्रस्तव', **पइण्णयसुत्ताइं**, भाग १, गाथा २१-६६.
११. देखें— **गणिविज्जापइन्नय**, संपा०- प्रो० सागरमल जैन, आगम संस्थान.
१२. **नन्दीसूत्रचूर्णि**, पृ० ५८.
१३. सारावली, **पइण्णयसुत्ताइं**, भाग १, पृ० ३५०, गाथा १-६.
१४. **प्रकीर्णक साहित्य : मनन और मीमांसा**, पृ० ७४.
१५. वही, पृ० ७५.
१६. वही, पृ० ७५.



जैन संस्कृति में पर्यावरण-चेतना

विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव*

‘पर्यावरण’ शब्द ‘वातावरण’ का ही पर्यायवाची है, जिसका सामान्य अर्थ होता है— आस-पड़ोस की परिस्थिति अथवा आस-पास का परिसर। पृथ्वी, पर्वत, वायु, जंगल, पेड़-पौधे या वनस्पति, जीव-जन्तु, पशु-पक्षी आदि से मिलकर ही पर्यावरण बना है। पर्यावरण का जीवन से अभिन्न सम्बन्ध है। कहना तो यह चाहिए कि पर्यावरण ही जीवन है।

जैन संस्कृति मूलतः अहिंसावादी संस्कृति है। इसलिए जैनशास्त्र में जीव-हिंसा का सर्वथा निषेध किया गया है। **आचारांगसूत्र** में षट्जीवनिकायों का वर्णन है। वे षट् जीवनिकाय निम्न हैं— १. पृथ्वीकाय, २. अपकाय, ३. अग्निकाय, ४. वायुकाय, ५. वनस्पतिकाय और ६. त्रसकाय। त्रसकाय के भी चार विभाग हैं— १. देव, २. नारक, ३. मनुष्य और तिर्यञ्च (पशु-पक्षी)। अपने ही कर्मों से जीवात्मा मनुष्य-योनि से च्युत होकर वनस्पति-योनि में भी जाती है।

वनस्पति भी जीव हैं, इसलिए उसे ‘वनस्पतिकायिक जीव’ कहते हैं। इसी से उसका काटना-छाँटना आदि कार्य जैन-संस्कृति में वर्जित है। इस दृष्टि से जैन-संस्कृति में पर्यावरण की चेतना, जैनधर्म जब से अस्तित्व में आया, तब से विकसित-विवर्धित रही है।

मूलाचार (वट्टकेर, ईसा पाँचवी-छठी शती) नामक आचार-प्रधान ग्रन्थ में लिखा है कि वनस्पति ऐकेन्द्रिय जीव हैं। इसकी नसें नहीं दिखायी पड़तीं। यह हरितकाय है। इसे जीव-स्वरूप जानकर इसके कृन्तन-रूप हिंसा नहीं करनी चाहिए। जैनाचार में हरितकाय पेड़-पौधों की टहनियों को तोड़ना भी मना है। फलों में भी कच्चे फलों को तोड़ना मना है, जो फल पककर स्वयं गिरते हैं, वे ही ग्राह्य हैं, क्योंकि वे अचित्त (अजीव) और अनवद्य होते हैं।

जैन चिन्तकों ने पर्यावरण की रक्षा की दृष्टि से वनस्पति को जीव मानकर उस पर दयाभाव रखने का आदेश दिया है। ईसवी-सन् की छठी-सातवीं शती के महान् कथाकार आचार्य संघदासगणि ने अपनी प्राकृत-कथाकृति **वसुदेवहिण्डी** के ‘बन्धुमती लम्भ’ में

*. पी०एन० सिन्हा कॉलोनी, भिखनापहाड़ी, पटना-८०० ००६

लिखा है कि जैनधर्म का मूल जीवदया है। संसारी मनुष्य कन्द, मूल, फूल, फल और पत्ते का उपभोग द्वारा प्रायः वनस्पति-कायिक जीवों को कष्ट पहुँचाते हैं। आगम-प्रमाण से वनस्पतियों को जीव मानकर उन पर श्रद्धा रखनी चाहिए।

मनुष्य विषयोपलब्धि के क्रम में जिस प्रकार अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार वनस्पति-जीव भी जन्मान्तर-क्रियाओं की भावलब्धिवश अपनी स्पर्शेन्द्रिय से विषय का अनुभव करते हैं। वनस्पति-कायिक जीवों के लिए भी किसी लब्धि-विशेष से विषय की उपलब्धि की बात कही जाती है। जैसे- मेघ का गर्जन सुनकर अङ्कुर या प्ररोह आदि का उद्गम होता है जिससे वनस्पति-कायिक जीवों की शब्दोपलब्धि की सूचना मिलती है। आधुनिक वैज्ञानिकों की भी यह मान्यता है कि रेडियो आदि की मधुर आवाज के सुनने से फसलों को संवर्द्धन प्राप्त होता है। इससे भी वनस्पति में शब्द की उपलब्धि की शक्ति विद्यमान रहने की सूचना मिलती है। साथ ही, इससे प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु के, वनस्पतियों में भी मनुष्य की तरह जैविक चेतना रहने के सिद्धान्त का समर्थन होता है।

और फिर, वृक्ष आदि का सहारा पाकर बढ़ने वाली लता आदि को रूप की उपलब्धि डालने है। इसी प्रकार, धूप देने से वनस्पति-जीव को गन्ध की उपलब्धि होती है तथा पानी डालने से ईख आदि वनस्पति को रस की उपलब्धि होती है और प्ररोह, जड़ आदि काट देने से उत्पन्न सिकुड़न से वनस्पति की स्पर्शोपलब्धि की सूचना मिलती है। पुनः रात्रि में कमल आदि के पत्तों या दलों के सिमटने से उनकी नींद का संकेत प्राप्त होता है और प्रातः दलों के खुलने से उनके जागने की स्थिति द्योतित होती है और फिर, कवि-प्रसिद्धि के अनुसार, स्त्रियों के नूपुरयुक्त पैरों के आघात से अशोक आदि पेड़ों के विकसित होने की जानकारी मिलती है और इसी प्रकार, असमय में फूल-फल के उद्गम से सप्तपर्णी वनस्पति की हर्षानुभूति का बोध होता है।

आचार्य संघदासगणि सकल वनस्पति में जीव की सिद्धि को प्रमाणित करते हुए कहते हैं— जिस प्रकार एक से अधिक इन्द्रियों वाले जीव उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं तथा खाद आदि उचित पोषण प्राप्त होने से स्निग्ध कान्ति वाले, बलसम्पन्न, निरोग एवं आयुष्यवान् (दीर्घायु) होते हैं। पुनः खाद आदि के अभाव या कुपोषण से कृश, क्षीण, दुर्बल और रुग्ण होकर मर जाते हैं, उसी प्रकार केवल एक इन्द्रिय (स्पर्शेन्द्रिय) से युक्त वनस्पति जीवों में उत्पत्ति और वृद्धि का धर्म दृष्टिगत होता है। इसी प्रकार वे वनस्पति-जीव मीठे पानी से सिक्त होने पर बहुत फल देने वाले, चिकने पत्तों से सुशोभित, सघन और दीर्घायु होते हैं और फिर, तीते, कड़वे, कसैले तथा खट्टे जल से सींचने पर वनस्पति-जीवों के पत्ते मुरझा जाते हैं या पीले पड़ जाते हैं या रुखे और सिकुड़े हुए हो जाते हैं तथा फलहीन होते हैं और अन्त में वे मर जाते हैं। इस प्रकार के कारणों से उनमें जीव है, ऐसा मानकर उनकी उचित

रीति से सेवा और रक्षा करनी चाहिए।

भारतीय संस्कृति में वृक्षपूजा को अतिशय महत्त्व दिया गया है। लोकजीवन में पीपल और बरगद तो विशिष्ट रूप से पूजित हैं। विवाह-संस्कार के अवसर पर आम-महुआ ब्याहने की भी चिराचरित प्रथा मिलती है। 'धात्रनवमी' का नामकरण उस तिथि को धात्रीवृक्ष (आँवला का पेड़) पूजने की विशेष प्रथा को संकेतित करता है, तो 'वटसावित्रीव्रत' (ज्येष्ठ अमावस्या) के दिन भारतीय सधवा स्त्रियाँ बरगद को पति का प्रतिनिधि मानकर उसकी पूजा करती हैं। वैदिक मतानुसार पीपल या अश्वत्थ तो साक्षात् त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु या कृष्ण और महेश) का ही प्रतिरूप है।

मूलतो ब्रह्मरूपाय मध्यतो विष्णुरूपिणे।

अग्रतः शिवरूपाय अश्वत्थाय नमो नमः।।

यहाँ अश्वत्थ को प्रधान वृक्ष मानकर उपलक्षण रूप में अश्वत्थ का नाम लिया गया है। सभी वृक्षों की स्थिति या महिमा अश्वत्थ जैसी ही है। विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य—**वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति**, म०म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ० २४७.

गीता में कृष्ण ने कहा भी है कि 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' (१०.२६) अर्थात् वृक्षों में यदि कृष्ण की व्यापकता को माना जाय, तो वह अश्वत्थ हैं। यहाँ तक कि अव्ययात्मा अश्वत्थ वृक्ष में ही समस्त संसार के आवासित रहने की भारतीय मिथक चेतना या परिकल्पना का भी अपना मूल्य है। वट-वृक्ष की पूजा से सावित्री-सत्यवान् की प्रसिद्ध पौराणिक आदर्शकथा के जुड़े रहने की बात सर्वविदित है। सोमवारी अमावस्या को अश्वत्थ-प्रदक्षिणा की लोकप्रथा भी भारतीय जीवन की धर्मनिष्ठ संस्कृति को सूचित करती है। बोधिवृक्ष के नीचे बुद्ध को ज्ञानलाभ होने के कारण बौद्धों में अश्वत्थ की पूजातिशयता सर्वस्वीकृत है। सिन्धुघाटी सभ्यता में अश्वत्थ वृक्ष का महत्त्व वहाँ से प्राप्त अनेक मुद्राओं तथा पात्रखण्डों पर अंकित वृक्षों से प्रकट होता है। भारत के प्राचीन साहित्य में वृक्षोत्सव की गणना अनेक लोकप्रचलित उत्सवों में की गयी है, जिनमें कामिनियाँ विविध क्रीड़ाएँ करती थीं। शाल-भंजिका-क्रीड़ा में इसके साक्ष्य उपलब्ध हैं। शालवन की चर्चा जैन और बौद्ध साहित्य में समान भाव से मिलती है।

भारतीय जीवन और संस्कृति की बृहत्कथा **वसुदेवहिण्डी** में वृक्षों के वर्णन-क्रम में कथाकार आचार्य संघदासगणि ने अपने सूक्ष्मतम प्राकृतिक और शास्त्र-गम्भीर अध्ययन का परिचय दिया है। **वसुदेवहिण्डी** में उपलब्ध वनों और वनस्पतियों की बहुवर्णों उद्भावनाएँ पर्यावरण-चेतना के अध्ययन की दृष्टि से अपना पार्यान्तिक महत्त्व रखती हैं। **वसुदेवहिण्डी** में संघदासगणि द्वारा उपन्यस्त वृक्ष-वर्णनों में वृक्षों की पूजनीयता और महत्ता का विन्यास तो हुआ ही है, पर्यावरण-चेतना भी समाहित हो गयी है। कथाकार ने पर्यावरण के महत्त्व की दृष्टि से उपयोगी वृक्षों में शाल, सहकार, तिलक, कुरबक, शल्लकी, चम्पक, अशोक,

कमल, कुमुद, कुन्द, गन्धर्वदत्ता, लभ्य पुत्राग, पनस, नालिकेर, पारापत, भव्यगज, नमेरूक (वेगवती लम्भ), सप्तवर्ण, तिन्दूसक (बालचन्द्रालम्भ), विल्व (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ), अक्षोट (अखरोट), प्रियाल (चिरौजी), कोल (बेर), तिन्दुक, इंगुद, कसार-नीवार (केतुमती-लम्भ) आदि का उल्लेख तो किया ही है, विशेष वनस्पतियों में कल्पवृक्ष, नन्दिवत्स, चित्ररस और रक्ताशोक (चैत्यवृक्ष) का भी वर्णन किया है।

कथाकार ने कमल के फूलों, कदलीवृक्ष और कुसुमित अशोकवृक्षों का तो बार-बार चित्रण किया है। किन्तु, चैत्यवृक्ष के सन्दर्भ में रक्ताशोक की अधिक चर्चा की है और इसे कल्पवृक्ष के समान कहा है। अर स्वामी नाम के अट्टारहवें तीर्थङ्कर ने जब महाभिनिष्क्रमण किया था, तब उनकी शिविका में कल्पवृक्ष के फूल सजे थे और उन पर भौर गुंजार कर रहे थे तथा उसके गुम्बद में विद्रुम, चन्द्रकान्त, पद्मराग, अरविन्द, नीलमणि और स्फटिक जड़े हुए थे। अरस्वामी उस शिविका पर सवार होकर सहस्राप्रवन पधारे और वहाँ सहकारवृक्ष (आम्रवृक्ष) के नीचे आकर बैठे। उनके बैठते ही तत्क्षण आम्रवृक्ष मंजरियों से मुस्करा उठा, कोयल मीठी आवाज में कूकने लगी और काले भौर गुंजार करने लगे। इस प्रकार सहस्राप्रवन का प्रदूषण-मुक्त पर्यावरण समस्त प्राणी-मात्र के लिए आनन्दप्रद हो उठा (केतुमतीलम्भ)।

जैन चिन्तकों ने पर्यावरण की सुरक्षा की दृष्टि से वनस्पति जीवों की रक्षा पर विशेष विचार किया है और वनस्पति के प्रकारों का वैज्ञानिक अध्ययन किया है। **गोम्मतसार** (आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, ईसा की १०वीं शती) में वनस्पति पर विचार करते हुए लिखा है कि वनस्पति के कई प्रकार होते हैं। जैसे— कुछ वनस्पतियाँ **मूलबीजात्मक** होती हैं, तो कुछ **स्कन्धबीजात्मक**। इसी प्रकार, कुछ वनस्पतियाँ 'बीजरुहा' होती हैं, तो कुछ 'सम्पुच्छिम'। जिन वनस्पति-जीवों का मूल ही बीज होता है, वे 'मूलबीज' कहे जाते हैं (जैसे- अदरख, हल्दी आदि)। जिनका (वनस्पति-जीवों) अग्रभाग ही बीज होता है, अर्थात् टहनी की कलम लगाने से वे उत्पन्न होते हैं, 'अग्रबीज' कहलाते हैं और पर्व (गाँठ या पोरा) ही जिनके बीज होते हैं, वे 'पर्वबीज' हैं (जैसे- ईख, बेंत आदि)। पुनः जो वनस्पति-जीव कन्द से उत्पन्न होते हैं, वे 'कन्दबीज' माने जाते हैं (जैसे- आलू, ओल आदि) इसी प्रकार जो वनस्पति-जीव स्कन्ध से उत्पन्न होते हैं, वे 'स्कन्धबीज' हैं (जैसे- कटहल, धतूरा आदि) और फिर, जो वनस्पति-जीव से उत्पन्न होते हैं, वे 'बीजरुह' हैं (जैसे- चावल, गेहूँ, अरहर आदि); किन्तु इन सबसे भिन्न जो वनस्पति-जीव नियत बीज आदि की अपेक्षा के बिना केवल मिट्टी और जल के सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं, वे 'सम्पुच्छिम' कहलाते हैं (जैसे- फफूँद, काई, सेवार आदि)।

उपर्युक्त विवरण से वनस्पति-जीव की व्यापकता की सूचना मिलती है। इसलिए, पेड़ काटने की बात तो दूर, पत्ते और टहनी तक तोड़ना भी पर्यावरण की प्ररक्षा की दृष्टि से अनुचित है, जीव-वध के समान क्रूर कार्य है। आज पत्तल और दतुवन के नाम पर पर्यावरण के प्रमुख उपकरण वनस्पति का नित्य ही महाविनाश हो रहा है। जैन चिन्तकों ने इस ओर

प्रारम्भ से ही ध्यान दिया है। इसीलिए उन्होंने पर्यावरण की शुद्धता के लिए वनस्पतियों को सुरक्षित रखना अनिवार्य समझा। भले ही उनके चिन्तन में प्राणिवध या हिंसा की दृष्टि से वनस्पति के कृन्तन-छेदन आदि कार्य सर्वथानिषिद्ध थे, परन्तु इसके मूल में पर्यावरण की चेतना अन्तर्निहित रही।

जैन-संस्कृति में पर्यावरण-चेतना की दृष्टि से चैत्यवृक्षों को पर्याप्त मूल्य दिया गया है। अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्र, ये चार वृक्ष चैत्यवृक्ष के रूप में प्रतिष्ठित हैं। जैनदर्शन के अन्तर्गत जीव-तत्त्व में जलकाय और वायुकाय की गणना से स्पष्ट है कि जैन चिन्तकों का ध्यान पर्यावरण के विशिष्ट तत्त्व वनस्पति के साथ ही जल और वायु की ओर भी था। वे पर्यावरण की विशुद्धि के लिए उसे जल-प्रदूषण और वायु-प्रदूषण से विमुक्त रखने के पक्षपाती थे। वायु-प्रदूषण से ही ध्वनि-प्रदूषण को भी अभिव्यंजना होती है।

इस प्रकार, पर्यावरण की रक्षा और उसकी विशुद्धि की दृष्टि से जैन-संस्कृति में वन और वनस्पति के महत्त्व की विशद् चर्चा मिलती है। वनस्पति, पशु-पक्षी एवं मनुष्य एक ही चेतना के रूप-भेद हैं। यहाँ तक कि समष्टयात्मक चेतना के रूपभेद की धारणा के आधार पर संघदासगणि ने जैनदर्शन की मान्यता के परिप्रेक्ष्य में एकेन्द्रिय जीव के शरीर रूप वनस्पति में जीवसिद्धि का साग्रह वर्णन किया है। अतएव वनस्पति के जीव होने के कारण ही जैनधर्म में सर्वप्रकार की कच्ची वनस्पति की अभक्ष्यता में पर्यावरण की विविध प्रदूषणों से प्ररक्षा और वनस्पतियों अथवा पेड़-पौधों की अस्तित्व-रक्षा का भाव निहित है। कहना न होगा कि जैनशास्त्र या तदनुवर्ती जैन संस्कृति में पर्यावरण के मूलभूत वन और वनस्पति के सम्बन्ध में बहुत गम्भीरता से वैचारिक विवेचन है, जो अपने आपमें एक स्वतन्त्र वनस्पतिशास्त्र की महिमा का बखान करता है। इस सन्दर्भ में विशेष ज्ञातव्य के लिए **गोम्मतसार** (नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती), **सर्वार्थसिद्धि** (पूज्यपाद), **षट्खण्डागम** (पुष्पदंत-भूतबलि) की **ध्वला टीका** (वीरसेन), **राजवार्तिक** (अकलंकदेव), **लाटीसंहिता** (राजमल्ल) आदि ग्रन्थों का अनुशीलन अपेक्षित है।

अहिंसावादी जैनधर्म श्रमणों और श्रावकों का आचरण पर्यावरण-संरक्षण के अनुकूल है, जिसके उदात्त और विस्तृत वर्णन में समग्र जैन वाङ्मय प्रखर भाव से मुखरित है, विशेषतया जैन-साहित्य और दर्शन में पर्यावरण-चेतना के चित्रण में उपस्थापित वन और वनस्पति के बहुकाशीय आयामों का समुद्भावन हुआ है।



पादलिप्तसूरि रचित - 'तरंगवईकहा' (तरंगवतीकथा)

वेदप्रकाश गर्ग

कथा-साहित्य चिरन्तनकाल से लोकरञ्जन एवं मनोरञ्जन का माध्यम रहा है, अतः इसका प्रवाह चिरकाल से सतत् प्रवहमान है। इस विशाल भारतीय कथा-साहित्य में जैन-कथा-ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह जैन कथा-साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। जैन-साहित्य में कथा की परम्परा अति प्राचीन है और वह प्राकृत, संस्कृत से होती हुई अपभ्रंश तक आयी है। जैनागमों में जहाँ छोटी-छोटी अनेक प्रकार की कहानियाँ दृष्टिगत होती हैं, वहाँ जैनागमों के निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं टीका-ग्रन्थों में तो अपेक्षाकृत विकसित कथा-साहित्य के दर्शन होते हैं। जैन कथाकारों ने अनेक पृथक् कथा ग्रन्थों का भी बड़ी संख्या में प्रणयन किया है।

जैन रचनाकारों ने जनसाधारण में प्रचारात्मक दृष्टि से नानाप्रकार की मनोरञ्जक कथाओं का निर्माण किया। ये कथा-ग्रन्थ संस्कृत के वासवदत्ता, दशकुमारचरित आदि लौकिक-कथाओं के समान ही हैं। उनमें ऐतिहासिक, अनैतिहासिक, धार्मिक एवं लौकिक आदि कई प्रकार की कथाएँ समाविष्ट हैं। इनमें किसी लोकप्रसिद्ध पात्र को कथा का केन्द्र बनाकर वीर व शृङ्गारादि रसों का आस्वादन कराता हुआ लेखक सबका उपसंहार वैराग्य एवं शम (शान्त रस) में कर देता है। इनमें पूर्व भवों की अनेक अद्भुत कथाएँ और अवान्तर कथाओं का ताना-बाना बुना रहता है अर्थात् जैनों द्वारा पात्रों के आधार से दिव्य, मानुष एवं मिश्र कथाएँ लिखी गयी हैं। उक्त कथाओं का उद्देश्य जैन-विचार रूप में व्रत, उपवास, दान, पर्व, तीर्थ, तथा कर्मवाद एवं संयम आदि के माहात्म्य को प्रकट करना है। इस दृष्टि से यद्यपि वे आदर्शोन्मुखी हैं; किन्तु फिर भी जीवन के यथार्थ धरातल पर टिकी हुई हैं और उनमें सामाजिक जीवन की विविध भंगिमाओं के दर्शन होते हैं। कथानक की दृष्टि से उक्त कथाओं का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। उनमें सभी प्रकार की कथाओं को स्थान मिला है, जो घटना बहुल हैं।

जैन-कथाओं की परम्परा में सिद्धर्षिकृत उपमितिभवप्रपञ्चकथा, धनपालकृत तिलकमञ्जरी, पादलिप्तकृत तरंगवती, संघदासगणिकृत वसुदेवहिण्डी, हरिभद्रकृत समराइच्चकहा और उद्योतनसूरिकृत कुवल्लयमालाकहा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत लेख में तरंगवईकहा (तरंगवतीकथा) के सम्बन्ध में चर्चा है।

*. १४ खटीकान, मुजफ्फरनगर, उ०प्र०, २५१००२

तरंगवईकहा प्राकृत-कथा-साहित्य की सबसे प्राचीन कथा है। इस नाम की प्रेमकथा का उल्लेख **अनुयोगद्वारसूत्र**,^१ 'दशवैकालिकचूर्णि'^२ तथा 'विशेषावश्यक-**भाष्य**'^३ में मिलता है। **निशीथचूर्णि** में तरंगवती को लोकोत्तर धर्मकथा कहा है।^४ उद्योतनसूरि ने **कुवलयमाला** में इस कथा की प्रशंसा की है। इसे वहाँ संकीर्ण कथा कहा गया है।^५ इसी प्रकार धनपाल कवि ने **तिलकमञ्जरी** में,^६ लक्ष्मणगणि ने **सुपासनाहचरिय**^७ में तथा प्रभाचन्द्रसूरि ने **प्रभावकचरित**^८ में तरंगवती का सुन्दर शब्दों में स्मरण किया है।

तरंगवती अपने मूल रूप में अब उपलब्ध नहीं है, हाँ, उसका संक्षिप्त रूप १६४३ गाथाओं में '**तरंगलोला**' नाम से उपलब्ध है। इसके रचनाकार हाइकपुरीय गच्छीय नेमिचन्द्रगणि का कथन है कि **तरंगवती** बहुत बड़ा ग्रन्थ था और इसकी कथा अद्भुत थी। यह वैराग्यमूलक एक प्रेमकाव्य है।

तरंगवतीकथा के रचयिता पादलिप्तसूरि थे। उनका जन्म कोशल में हुआ था। उनका पूर्व नाम नागेन्द्र था, साधु हो जाने पर 'पादलिप्त' नाम हुआ। वे जैनधर्म के एक प्रसिद्ध एवं प्राचीन आचार्य थे और सातवाहननरेश हाल की राजसभा में सम्मानित कवि थे। उद्योतनसूरि ने भी **कुवलयमाला** की प्रस्तावना-गाथाओं में इन्हें राजा सातवाहन की गोष्ठी की शोभा कहा है। एक किंवदन्ती के अनुसार वे उज्जयिनी के राजा विक्रम के समकालीन थे। विद्वानों ने इनका समय चौथी शती से पूर्व निश्चित किया है। इनका विशेष परिचय **प्रभावकचरित** में दिया गया है।^९ प्रो० लायमन ने **तरंगवई** का रचना-काल ईस्वी सन् की दूसरी-तीसरी शताब्दी स्वीकार किया है।

तरंगलोला को **संक्षिप्त तरंगवती**^{१०} भी कहते हैं और इसमें कथावस्तु चार खण्डों में विभक्त है, जो संक्षेप में इस प्रकार है —

चन्दनबाला के नेतृत्व में साध्वी संघ में सुव्रता आर्या थी, जो अतिरूपवती थी। उसे अपने रूप-सौन्दर्य का गर्व था, वह एक श्राविका को अपनी जीवनकथा कहती है— पूर्व भव में वह एक धनी वणिक् की सुन्दरी पुत्री थी। एक दिन वह उपवन में क्रीड़ा करने गयी, तो सरोवर में हंस-मिथुन को देखकर उसे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया, जबकि वह स्वयं हंसिनी थी, उसके पति हंस को किसी व्याघ्र ने मार डाला था। वह भी उसके प्रेम के कारण उसके साथ जलकर मर गयी थी। यह याद करके उसे मूर्च्छा आ गयी। यहीं से प्रेम और विरह की जागृति होती है। सचेत होने पर वह अपने प्रियतम की खोज में निकल पड़ी। उसने एक सुन्दर चित्रपट बनाया, जिसमें हंस युगल का जीवन चित्रित था। इसकी सहायता से उसने अनेक विपत्तियाँ सहने के बाद अपने पूर्वजन्म के पति को ढूँढ़ लिया। इस प्रकार उसे अपने इष्ट की प्राप्ति होती है। वह और उसका प्रेमी गन्धर्व विवाह-बन्धन में बँधते हैं। परदेश में भटकते हुए वे काली

देवी की बलि चढ़ाने के संकट में पड़ जाते हैं। किसी प्रकार उनका बचाव होता है। माता-पिता उन्हें खोज कर उनका विधिवत् विवाह कर देते हैं। एक समय वसन्त ऋतु में वन-विहार करते समय उन्हें उस जैन मुनि से उपदेश सुनने को मिला जो कि पूर्वभव में नर हंस को मारने वाला व्याघ्र था। उससे प्रभावित होकर उन्हें संसार से विरक्ति हो जाती है और अन्त में वे दोनों प्रवज्या लेकर जैनधर्म स्वीकार करते हैं। अन्त में सुव्रता कहती है, वही तरंगवती मैं सुव्रता आर्या हूँ।

उक्त आत्मकथा उत्तम पुरुष में वर्णित एवं अद्भुत शृङ्गार-कथा है, जिसका अन्त धर्मोपदेश में हुआ है। इसमें करुण-शृङ्गारादि अनेक रसों, प्रेम की विविध परिस्थितियों, चरित्र की ऊँची-नीची अवस्थाओं, बाह्य तथा अन्तर्संघर्ष की स्थितियों का बहुत स्वाभाविक और विशद वर्णन किया गया है। काव्य-चमत्कार अनेक स्थलों पर मिलता है। भाषा प्रवाहपूर्ण एवं साहित्यिक है। देशी शब्दों और प्रचलित मुहावरों का अच्छा प्रयोग हुआ है।

सन्दर्भ

१. द्रष्टव्य सूत्र १३०, उद्धृत— जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृतसाहित्य का इतिहास, द्वि०सं०, वाराणसी १९८५ ई०, पृ० ३२३.
२. द्रष्टव्य ३, पृ० १०९, उद्धृत, वही, पृ० ३२३.
३. द्रष्टव्य गाथा १५०८, उद्धृत, वही, पृ० ३२३.
४. तरंगलीला की भूमिका में उद्धृत, पृ० ७.
५. कुवलयमाला, पृ० ३, गाथा २०.
६. तिलकमञ्जरी, श्लोक २३.
७. सुपासनाहचरिय, पूव्वभव, गाथा ९.
८. किसी-किसी ने इस कथा का नाम 'तरंगलोला' लिखा है।
९. प्रभावकचरित, पृ० २८-४०.
१०. इसके रचयिता वीरभद्र आचार्य के शिष्य नेमिचन्द्रगणि हैं, जिन्होंने मूल कथा के लगभग १००० वर्ष बाद यश नामक अपने शिष्य के लिए इसे लिखा था। नेमिचन्द्र के अनुसार पादलिप्त ने तरंगवती की रचना देशी भाषा में की थी, जो अद्भुत रससम्पन्न एवं विस्तृत थी और केवल विद्वद्योग्य थी (लेखक के सम्बन्ध में अन्य वृत्त अज्ञात हैं)।

जर्मन विद्वान् अर्नेस्ट लायमन ने इसका जर्मन भाषान्तर प्रकाशित किया है। इस भाषान्तर का गुजराती अनुवाद भी पहले पत्रिका में और बाद में पुस्तक रूप में प्रकाशित हो चुका है।

नाट्यशास्त्र एवम् अभिनवभारती में शान्त रस

डॉ० मधु अग्रवाल

भारतवर्ष में ईसा की कई शताब्दियों पूर्व से ही नाट्यकला पूर्णतया विकसित अवस्था में विद्यमान रही है। यह बात रामायण, महाभारत एवं पातञ्जल महाभाष्य से प्राप्त साक्ष्यों से स्पष्ट होती है। भरत ने इस नाट्यकला को शास्त्र का सुविकसित एवं वैज्ञानिक रूप प्रदान किया है जो नाट्यशास्त्र के नाम से जाना जाता है। नाट्यशास्त्र में उपलब्ध साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि भरतों की एक परम्परा विद्यमान रही है और उसी गौरवशाली परम्परा की शास्वत साधना का परिणाम है नाट्यशास्त्र।

नाट्यशास्त्र भारतीय नाट्यकला का अनुपम ग्रन्थरत्न है। इसे मात्र नाट्यकला का ही नहीं अपितु भारतीय कलाओं का कोश कहा जाता है। इस ग्रन्थ पर विभिन्न टीकायें रची गयीं जिनमें से एकमात्र उपलब्ध टीका **अभिनवभारती** के नाम से जानी जाती है। इसके रचनाकार अभिनवगुप्त हैं। **अभिनवभारती** स्वयं टीका ग्रन्थ होते हुए भी अपने प्रकाण्ड पाण्डित्यपूर्ण विवेचन के कारण स्वतन्त्र नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ के समान ही महत्त्वपूर्ण है।

नाट्यशास्त्र एवं **अभिनवभारती** में रसनिष्पत्ति, रसों की संख्या, उनके नामकरण का आधार आदि बातों का विस्तृत विवेचन है। प्रस्तुत आलेख में विद्वान् लेखिका ने उक्त ग्रन्थों में शान्तरस की अभिनेयता, प्रतिपादन और विश्वशान्ति हेतु उसकी उपादेयता की चर्चा की है। — सम्पादक

नाट्य में शान्त रस की स्थिति के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। नाट्यशास्त्र के प्राप्य दो संस्करणों में 'शान्त' का नवम रस के रूप में वर्णन है; किन्तु काशी संस्करण में शान्त के अतिरिक्त आठ रसों का ही विवेचन है।^१ इस शास्त्र के विभिन्न संस्करणों के इस पाठभेद के आधार पर इस शास्त्र में भी शान्त रस की स्थिति आशङ्क्युक्त है।^२ अभिनवगुप्त ने वैकल्पिक पाठों को प्रस्तुत करके नाट्यशास्त्र में शान्त रस को नवम रस मानकर ९ रसों की स्थिति नाट्य में स्वीकार की है।^३

अपनी मान्यता के समर्थन में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है कि

* रीडर, संस्कृत-विभाग, रानी भाग्यवती देवी स्नातकोत्तर महिला महाविद्यालय, बिजनौर, उत्तर प्रदेश। पत्र-व्यवहार हेतु पता- १७, आवास विकास, बिजनौर।

इतिहास, पुराण, अभिधान-कोश आदि में नव रसों का वर्णन किया गया है। श्रीमत्सिद्धान्तशास्त्र में भी नव रसों का सिद्धान्त प्राप्त है— 'आठों देवताओं के शृङ्गारादि का प्रदर्शन करे और उनके बीच में महादेव के शान्त रूप की रचना करे।'^४

इस प्रकार मोक्षरूप अध्यात्म का कारण तत्त्वज्ञान रूप हेतु से युक्त और निःश्रेयस् रूप फल से युक्त शान्तरस समझना चाहिए।^५ इन्होंने शान्त रस को अन्य सब रसों का मूल (प्रकृति) बताया है।^६

रामचन्द्र-गुणचन्द्र,^७ विश्वनाथ,^८ विद्यानाथ,^९ भोज,^{१०} हेमचन्द्र,^{११} भानुदत्त,^{१२} मम्मट,^{१३} उद्भट,^{१४} अग्निपुराणकार,^{१५} पण्डितराज जगन्नाथ,^{१६} रुद्रट,^{१७} रुद्रभट,^{१८} शान्त को नवम रस मानने के पक्षधर हैं। इनके विपरीत धनञ्जय,^{१९} धनिक,^{२०} शारदातनय^{२१} एवं दण्डी^{२२} शान्त रस को स्वीकार नहीं करते हैं। द्रष्टव्य यह है कि धनञ्जय, धनिक एवं शारदातनय शान्त रस को अनभिनेय मानकर मुख्यतः नाटकदि में इसकी सत्ता का विरोध करते हैं।

डॉ० राघवन का कथन है कि अलङ्कारशास्त्र के आचार्य दण्डी के समय ७वीं शताब्दी तक आठ ही रसों की विद्यमानता को स्वीकार करते हैं। नवम शान्त रस को इनके पश्चात् मान्यता प्राप्त हुई।^{२३}

इस सन्दर्भ में कालिदास द्वारा विक्रमोर्वशीय में भरत मुनि के नामोल्लेख सहित आठ रसों से युक्त नाटक का उल्लेख हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करता है कि इनके समय में भरतसम्मत आठ रसों की ही सत्ता स्वीकार्य थी।^{२४} सागरनन्दी^{२५} एवं शिङ्गभूपाल^{२६} ने भी मात्र आठ ही रसों का नाट्य हेतु विवेचन किया है। शान्त रस के सम्बन्ध में इनका मौन धारण नाट्य में शान्त रस की स्थिति को न मानने का पक्ष प्रस्तुत करता है। सागरनन्दी ने अपने सिद्धान्त पक्ष को प्रस्तुत करने से पूर्व प्रायः भरत के नाट्यशास्त्र की कारिकाओं को उद्धृत किया है।

यद्यपि प्रमाणों के आधार पर यह सम्भावना अधिक प्रबल है कि नाट्यशास्त्र में पहले आठ ही रसों का विवेचन रहा होगा तथा नवम शान्त रस का श्लोक प्रक्षिप्त हो सकता है; किन्तु फिर भी वर्तमान समय में नाट्य-परम्परा में शान्त रस का अङ्गीरस के रूप में चित्रित करने वाली नाट्यकृतियों अध्यात्मकल्पद्रुम,^{२७} सङ्कल्पसूर्योदय,^{२८} शारिपुत्रप्रकरण,^{२९} प्रबोधचन्द्रोदय^{३०} इत्यादि की लम्बी सूची प्राप्य होना ही इस तथ्य को प्रमाणित कर देता है कि नाट्य में भी शान्त रस की स्थिति हो सकती है एवं यह पूर्णतया अभिनेय है। डॉ० राघवन ने 'द नम्बर ऑफ रसाज' में शान्त रस प्रधान नाटकों के नाम उद्धृत किये हैं।^{३१} डॉ० कृष्णमाचारी ने भी शान्तरस के रूपकों को उल्लिखित किया है।^{३२}

इस प्रकार उपलब्ध प्रमाण नाट्य में शान्त रस की स्थिति सिद्ध करते हैं। शृङ्गार और वीर के सदृश नाटकों में शान्त रस भी अङ्गी रस के रूप में अभिनेय है।

शान्त रस के अभिनय के विपक्ष में धनिक^{३३} एवं शारदातनय^{३४} का यह कथन है कि अभिनयात्मक नाटक आदि में 'शम' का अभिनय किया जाना सम्भव नहीं है, क्योंकि 'शम' की अवस्था में समस्त व्यापारों एवं चेष्टाओं का विलय हो जाता है।

अभिनवगुप्त ने शान्त रस के समर्थकों के आधार पर उसका निरूपण एवं शान्त रस के विरोधी आचार्यों के इस प्रकार मतों एवम् आशङ्काओं को प्रस्तुत करके उनको अस्वीकारते हुए नाट्य में शान्त रस को अभिनेय सिद्ध किया है।^{३५} **ध्वन्यालोक** पर अपनी लोचन टीका में इन्होंने भरत के 'क्वचित् शमः' इत्यादि कथन को शान्त रस के प्रमाण रूप में उद्धृत किया है।^{३६} इनके मत में धर्मादि चार पुरुषार्थों में मोक्ष भी है। नाट्य लोकवृत्तानुचरित है और मोक्षरूप पुरुषार्थ का साधन इस लोक में अनेक महापुरुष करते हैं। अतः शान्त रस का भी अभिनय सम्भव है।^{३७}

शारदातनय, धनिक आदि द्वारा चेष्टाओं के विलय के कारण जो शान्त रस को अनभिधेय कहा गया है— इस तर्क का खण्डन करते हुए अभिनवगुप्त का कथन है कि चेष्टाओं का विलय तो पराकाष्ठा है और पर्यन्त भूमि में केवल शान्त रस ही व्यापार-शून्य और अनभिनेय नहीं है अपितु रति और शोकादि का भी पर्यन्त दशा में अनभिनेयत्व ही पराकाष्ठा प्रदर्शन हेतु उचित है। इस स्थिति में जब शृङ्गार, करुण आदि को रस मानते हैं तो शान्त को भी मानना युक्तिसङ्गत है।^{३८} पण्डितराज जगन्नाथ ने शान्त रस का विरोध करने वाले आचार्यों के तर्कों को पूर्वपक्षी के रूप में प्रस्तुत करके इनका युक्तिपूर्वक खण्डन करते हुए नाट्य में शान्त रस का होना औचित्यपूर्ण कहा है।^{३९} भूदेव ने भी इनका समर्थन किया है।^{४०} शान्त रस के अभिनय में पूर्ण शमन के प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं है, अपितु स्वभावगत शान्ति लौकिक सुख-दुःख के प्रति विराग के प्रदर्शन से ही शान्त रस अभिनेय है। अभिनवगुप्त का समर्थन करते हुए डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित का विचार है कि पात्र के अन्तःसङ्घर्ष को प्रकट करते हुए सत्यप्राप्ति अथवा आत्मज्ञानोपलब्धि के लिये किये गये प्रयत्नों का प्रदर्शन ही शान्त रस को उपस्थित कर सकता है।^{४१} हर्ष के नागानन्द नाटक में भी तपोवन आदि के प्रसङ्ग में शान्त रस प्राप्य है।

नाट्यशास्त्र की प्रति में प्राप्य शान्त रस के स्वरूप के आधार पर शान्त रस का वर्णन इस प्रकार है—

'शम' स्थायी भाव वाला और मोक्ष में प्रवृत्त करने वाला शान्त रस होता है।^{४२}

शान्त रस के स्थायी भाव के सम्बन्ध में भी दो पक्ष हैं। भरत का समर्थन करते हुए अभिनव,^{४३} रामचन्द्र-गुणचन्द्र,^{४४} विश्वनाथ,^{४५} विद्यानाथ,^{४६} हेमचन्द्र^{४७} आदि शम को ही स्थायी भाव मानते हैं, जबकि मम्मट,^{४८} पण्डितराज जगन्नाथ^{४९} एवं भूदेव^{५०} शान्त रस का स्थायी भाव 'निर्वेद' मानने के पक्षधर हैं। यद्यपि 'शम' और 'निर्वेद' एक ही प्रकार की चित्तवृत्ति के द्योतक हैं। फिर भी 'निर्वेद' की उत्पत्ति दारिद्र्य से भी सम्भव होने एवं इसमें

सर्ववृत्ति-विराग की झलक एवं अभाव के स्थायित्व के न होने के कारण 'शम' को स्थायी भाव एवं 'निर्वेद' को व्यभिचारी भाव माना जाना ही उचित है।^{५१} अभिनवगुप्त के मत में तत्त्व-ज्ञान से उत्पन्न निर्वेद 'शान्त रस' का स्थायी भाव एवं अन्य कारणों से उत्पन्न होने पर यह व्यभिचारी भाव होता है।^{५२}

शान्त रस के उद्दीपन विभाव—तत्त्वज्ञान, वैराग्य, चित्तशुद्धि आदि हैं।^{५३} रामचन्द्र-गुणचन्द्र^{५४} ने यत्किञ्चित् परिवर्तन के साथ यही उद्दीपन बताये हैं; किन्तु साहित्यदर्पणकार^{५५} ने पुण्याश्रम, हरिक्षेत्र, तीर्थ, रमणीक वनादि एवं महापुरुषों का सङ्गादि उद्दीपन विभावों को उल्लिखित किया है।

यम, नियम, अध्यात्म, ज्ञान, ध्यान, धारणा, उपासना, सभी प्राणियों के प्रति दया, प्रव्रज्या-ग्रहण आदि अनुभावों द्वारा इसका अभिनय किया जाता है।^{५६} व्यभिचारी भाव- निर्वेद, स्मृति, धृति, सर्वाश्रम शौच, स्तम्भ, रोमाञ्च आदि हैं।^{५७} शान्त रस की अभिनेयता के सन्दर्भ में नीचे कुछ उदाहरण 'नागानन्द' से उद्धृत हैं।

नाट्यकृतियों में से नागानन्द में शान्त रस प्राप्य है। प्रथमाङ्क में जीमूतवाहन के निर्वेद व्यञ्जक वचनों में,^{५८} सुरभित होमगन्ध से युक्त तपोवन के वर्णन में^{५९} शान्त रस की प्रतीति होती है। तपोवन के प्रशान्त वातावरण का वर्णन करते हुए जीमूतवाहन कहता है कि यह तपोवन कितना प्रशान्त एवं रमणीय है, जहाँ प्रसन्न मुनिगण संदिग्ध वेदमन्त्रों का विचार कर रहे हैं, जहाँ पढ़ते हुए विद्यार्थीगण गीली समिध् को तोड़ रहे हैं और जहाँ तापसों की कन्याएं छोटे-छोटे पौधों के आलबाल को जल से भर रही हैं।^{६०}

इस स्थल पर आलम्बन विभाव, चित्तशुद्धि, वनगमन, मलयपर्वत, तपोवन आदि उद्दीपन विभाव; ज्ञान-धारणा, सभी प्राणियों के प्रति दया आदि अनुभाव तथा निर्वेद, धृति आदि व्यभिचारी भावों से पुष्ट शान्त रस है।

प्रथम अङ्क में जीमूतवाहन के 'तिष्ठन् भाति पितुः पुरो'^{६१} इत्यादि श्लोक में जीमूतवाहन राज्य-सुखादि की अपेक्षा माता-पिता की सेवा में सुख-शान्ति की अनुभूति का कथन करता है। अतः इसमें शान्त रस की प्रतीति होती है।

इस स्थल पर आलम्बन जीमूतवाहन, उद्दीपन जीमूतवाहन की चित्तशुद्धि, अनुभाव, नियम एवं जीमूतवाहन की सुख की अनुभूति का कथनादि तथा धृति एवं शौच व्यभिचारी भाव हैं।

जीमूतवाहन के 'तत्त्वज्ञानजन्य' निर्वेद को द्योतित करने वाले निम्नलिखित कथनों में भी 'शान्तता' अभिव्यक्त हो रही है—

'सर्वार्शुचि पापानि कुर्वते॥'^{६२} एवं

'मेदोऽस्थिमांस सदा वीभत्सदर्शने॥'^{६३}

इस प्रकार हर्ष के नागानन्द नाटक में दया वीर रस के अङ्गी रस के रूप में चित्रण होते हुए भी शान्त आदि अन्य रस इसके अङ्ग रस हैं। प्रथमाङ्क में शान्त और शृङ्गार के विरोध का— 'अहो गीतम्, अहो वादितम्॥' इत्यादि से मध्य में अब्दुत रस का सञ्चार होने से विरोध परिहार हो गया है। 'उदात्तता' गुण नायक में उत्कृष्ट रूप में विद्यमान है तथा 'प्रशान्तता' उसका सामान्य गुण है। अतएव इस नाटक में शान्त रस अङ्गी न होकर गौण रस है।

अध्यात्मकल्पद्रुम, सङ्कल्पसूर्योदय, शारिपुत्रप्रकरण, प्रबोधचन्द्रोदय इत्यादि नाट्यकृतियों में नाट्यशास्त्र एवम् अभिनवभारती में वर्णित शान्त रस का अङ्गी रस के रूप में चित्रण है। इस प्रकार की नाट्यकृतियों और नागानन्द के शान्त रस के अभिनेय होने के दर्शाये गये उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि नाट्य में शान्त रस पूर्ण अभिनेय रस के रूप में स्वीकार्य है।

वर्तमान विश्व अशान्ति की परिस्थितियों में 'शान्त रस' की प्रधानता वाले नाट्यकृतियों की आवश्यकता है ताकि मानव मन हिंसा वृत्ति से विरत हो। दृश्यकाव्य में अभिनय को देख व सुनकर दृश्य-श्रव्य होने के कारण मानव मनोविज्ञान के फलस्वरूप दृष्टा रङ्गमञ्च पर उपस्थित पात्र से अपना तादात्म्य स्थापित करके देखने लगता है और प्रवचनों, पुस्तकों आदि के माध्यम से प्रस्तुत की गयी सत्यता को भी उतने प्रभावशाली ढंग से समझना नहीं चाहता है, जितना प्रत्यक्ष में। दृश्यमान् काव्य का मञ्चीकरण पात्रों के माध्यम से मन की कोमल भावनाओं को उद्वेलित करने व इसके फलस्वरूप मन परिवर्तन करने में सक्षम है।

अतः विश्व-शान्ति हेतु प्रयासरत प्रत्येक प्राणी का यह कर्तव्य है कि वह इस प्रकार के साहित्य के मञ्चन और अवलोकन में रुचि ले।

यदि हम रचनाकार हैं और भारत की भावी पीढ़ी की शान्ति की कामना रखते हैं तो हमारा यह उत्तरदायित्व बन जाता है कि नागानन्द की भाँति आधुनिकता से पूर्ण विलासी जीवन को दिखाकर शान्त रस का सञ्चार करने वाली नश्वर जीवन की सत्यता को प्रस्तुत करके मन परिवर्तन का उदाहरण विविध रूपों में प्रस्तुत किया जाय ताकि पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित, भारतीय संस्कृति से पूर्ण पराङ्गमुख, जीवन के अन्त समय की सत्यता से परे रहने वाले भारतीयजनों की विचारधारा में परिवर्तन सम्भव हो सके और वह हिंसा वृत्ति से विमुख होकर अहिंसा, आत्मशुद्धि, आत्मचिन्तन, तप, स्वाध्याय, त्याग, बलिदान आदि जीवनमूल्यों की ओर उन्मुख हों व ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करें कि गरुड सदृश उच्छृङ्खल, क्रूर व हिंसक व्यवहार करने वाले, दूसरों की हत्या से अकारण आनन्दित होने वाले विश्व भर के आतङ्कवादियों के लिए अनूठी हृदय परिवर्तन की भूमिका निभा सकें।

सदा से शान्ति की खोज में भारत की ओर दृष्टि रखने वाले पाश्चात्य शान्ति प्रेमियों को उपर्युक्त आनुपातिक दृष्टान्तों के उपलब्ध होने पर यहाँ के वातावरण से निराशा हाथ

नहीं लगेगी और विश्व शान्ति के कार्य में भी भारत पूर्व की भांति अपार शान्ति का सन्देश देने वाला देश है, इसी रूप में पुनः ख्यात होगा।

सन्दर्भ- सूची

१. सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, **भरत और भारतीय नाट्यकला**, प्रथम संस्करण, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९७४ ई०, पृ० २४२.
२. **नाट्यशास्त्र**, सम्पा०— एम०रामकृष्णकवि, भाग १, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, क्रमांक ३६, बड़ोदरा, १९२६ ई०, भूमिका, पृ० ५२; नगेन्द्र, **रस-सिद्धान्त**, तृतीय संस्करण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९७४ ई०, पृ० २३७; गणपतिचन्द्र गुप्त, **रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन**, प्रथम संस्करण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६० ई०, पृ० २०.
३. तेन प्रथमं रसाः। ते च नवा। शान्तापलापिनस्वष्ट्राविति तत्र पठन्ति। **अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र**, भाग १, पृ० ६१२.
४. इतिहासपुराणाभिधानकोशादौ च नव रसाः श्रूयन्ते श्रीमत्सिद्धान्तशास्त्रेष्वपि। तथा चोक्तम्
'अष्टानामिह देवानां शृङ्गारादीन् प्रदर्शयेत्। मध्ये च देवदेवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पयेत्॥'
अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० ३३९-४०.
५. **अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र**, भाग १, पृ० ३३९-४०.
६. पूर्वोक्त, पृ० ३३९-४०.
७. संसारभय-वैराग्यतत्त्वशास्त्रविमर्शनैः।
शान्तोऽभिनयनं तस्य क्षमा ध्यानोपकारतः॥ **नाट्यदर्पण**, ३/१७६.
८. न यत्र दुःखम् समप्रमाणः, इत्येवंरूपस्य शान्तस्य
..... युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।
रसतामेति तदस्मिन् सञ्चार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा॥ **साहित्यदर्पण**, ३/२५० एवम्
पृ० २७७, पाद टिप्पणी.
९. **प्रतापरुद्रीय**, पृ० २६०-२६१.
१०. V. Raghvan, *The Number of Rasas*, Adyar, 1990, p. 124-125.
भोज **शृङ्गारप्रकाश**, जिल्द २, पृ० ४३८.
११. **काव्यानुशासन**, २/पृ० १०६.
१२. **रसतरङ्गिणी**, पृ० १६१.

१३. काव्यप्रकाश, ४/४७.
१४. काव्यालङ्कार संग्रह, ४/४.
१५. अग्निपुराण, ३३९/श्लोक ९.
१६. रसगङ्गाधर, १/पृ० १३२-१३५.
१७. काव्यालङ्कार, १२/२-३
१८. शृङ्गारतिलक, १/९.
१९. शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य॥ दशरूपक, ४/३५.
२०. दशरूपक, ४/३५ पर धनिक वृत्ति.
२१. भावप्रकाश, १, पृ० २६.
२२. काव्यादर्श, २/२९२.
२३. V. Raghvan, *The Number of Rasas*, Adyar, 1940 A.D., p. 1.
२४. मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः।
ललिताभिनयं मतमत्भार्तामरूता दृष्टुमनाः सलोकपालः॥ विक्रमोर्वशीयम्, २/१८.
२५. नाटकलक्षणरत्नकोश, पृ० १८३-१९०.
२६. रसावर्णसुधाकर, २, पृ० १०४-११९.
२७. सुन्दरसूरि, अध्यात्मकल्पद्रुम.
२८. वेंकटनाथ, सङ्कल्पसूर्योदय.
२९. अश्वघोष, शारिपुत्रप्रकरण.
३०. कृष्णमिश्र, प्रबोधचन्द्रोदय.
३१. V. Raghvan, *The Number of Rasas*, Adyar, p. 36-41.
३२. *Krishnamachari, History of Classical Sanskrit Literature*, p. 676-685.
३३. सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते। तस्य समस्त व्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्। दशरूपक, ४/३५, धनिक-वृत्ति
३४. विलीन सर्वव्यापारः शमः स्थायी भवेद्यतः॥
अतोऽनुभावराहित्वात्त्र नाट्येऽभिनयो भवेत्।
तस्माद्बृद्धप्रयोगेण रस पोषो न जायते॥
ततोऽष्टौ स्थायिनो भावा नाट्यस्यैवोप योगिनः। भावप्रकाश, १/ पृ० २६.
३५. अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र, भाग १, पृ० ३३० से आगे.

७८ : श्रमण/जनवरी-जून २००२ संयुक्तांक

३६. प्रतीयत एवेति मुनिनाऽप्यगीयत एव 'क्वचिच्छमः' इत्यादि वदता। **ध्वन्यालोक लोचन**, पृ० ३९१.
३७. अत्रोच्यते- इह तावद्धर्मादित्रितयमिव मोक्षोऽपि पुरुषार्थः। ... मोक्षाभिधानपरमपुरुषार्थोचिता चित्तवृत्तिः किमिति रसत्वं नानीयत इति वक्तव्यम्। **अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र**, भाग १, पृ० ३३३.
३८. रति शोकादावपि पर्यन्तदशायामप्रयोगस्यैव युक्त्वात्। हृदयसंवादोऽपि तथाविधतत्त्वज्ञानबीजसंस्कारभावितानं भवत्येव। तद्वक्ष्यति— 'मोक्षे चापि विरागिणः'। **अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र**, भाग १, पृ० ३३३ और आगे.
३९. **रसगङ्गाधर**, १, पृ० १३२-१३५.
४०. **रसविलास**, पृ० ८-९ (प्रथमस्तवक), प्रेमलता शर्मा
४१. आनन्दप्रकाश दीक्षित, **रस-सिद्धान्त स्वरूप-विश्लेषण**, पृ० २७९.
४२. अथ शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः। **नाट्यशास्त्र**, अध्याय ६, पृ० ३३२.
४३. **अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र**, अध्याय ६, पृ० ३३२ और आगे.
४४. **नाट्यदर्पण**, ३/१७६, वृत्ति-पं० ४
४५. **साहित्यदर्पण**, ३/२४५.
४६. **प्रतापरुद्रीय**, पृ० १६७.
४७. **काव्यानुशासन**, २/१७.
४८. **काव्यप्रकाश**, ४/४७
४९. **रसगंगाधर**, १, पृ० १४३.
५०. **रसविलास**, पृ० २६.
५१. पूर्वोक्त, पृ० २६
५२. **अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र**, अध्याय ६.
५३. स तु तत्त्वज्ञानवैराग्याशयशुद्ध्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। **नाट्यशास्त्र**, ६, पृ० ३३२.
५४. **नाट्यदर्पण**, ३/१७६.
५५. **साहित्यदर्पण**, ३/२४७-२४८
५६. तस्य यमनियमाध्यात्मध्यानधारणोपासनसर्वभूतदयालिङ्गग्रहणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। **नाट्यशास्त्र**, ६, पृ० ३३२-३३; **नाट्यदर्पण**, ३/१७६, वृत्ति पं० ५-६.

५७. व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेदस्मृतिधृतिसर्वाश्रमशौचस्तम्भरोमाञ्छादयः। **नाट्यशास्त्र**, अध्याय ६, पृ० ३३३; **नाट्यदर्पण**, ३/१७६ वृत्ति पं० ७; **साहित्यदर्पण**, ३/२४९.
५८. **नागानन्द**, १/७, १, पृ० १८-१९.
५९. वही, १/११-१२.
६०. वही, १/११ के पश्चात् गद्यखण्ड.
६१. वही, १/७.
६२. वही, ४/७.
६३. वही, ५/२४.



मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की भूमिका

डॉ० कमलेशकुमार जैन

जैनधर्म के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग अथवा मोक्ष-प्राप्ति के उपाय हैं, स्वतन्त्र रूप से एक-एक अथवा इनमें से किन्हीं दो-दो का जोड़ा-विशेष नहीं। फिर भी इन तीनों में सम्यग्दर्शन प्रमुख है, क्योंकि इसके बिना शेष ज्ञान और चारित्र सम्यक् नहीं होते हैं। सम्यग्दर्शन हो जाने पर उस सम्यग्दृष्टि जीव-विशेष के ज्ञान और चारित्र भी सम्यक् हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र भजनीय है। वे हो भी सकते हैं और नहीं भी, किन्तु सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के हो जाने पर सम्यग्दर्शन नियम से होता है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।

सम्यक्चारित्र के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है और सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञानपूर्वक होता है। अतः सम्यग्दर्शन ही मोक्ष रूपी भव्य प्रासाद का मूलाधार है। हम चाहें तो इसे ही मोक्ष-प्राप्ति में हेतुभूत भूमि भी कह सकते हैं और 'भूमिरिव भूमिका' अर्थात् सम्यग्दर्शन रूपी भूमि ही मोक्षमार्ग की भूमिका कही जा सकती है।

श्रमण-परम्परा के प्रमुख आचार्य कुन्दकुन्द ने दंसणपाहुड में लिखा है कि—

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणां।

सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति।।

अर्थात् जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट ही हैं। दर्शन से भ्रष्ट जीवों को निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती है और जो चारित्र से भ्रष्ट हैं वे प्रयासपूर्वक सिद्धि को प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु दर्शन से भ्रष्ट जीव कभी भी सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने इस गाथा में सम्यग्दर्शन से रहित जीव की मुक्ति का उत्तरोत्तर जोर देते हुये तीन बार निषेध किया है। इससे यह तो निश्चित है कि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव अनन्तानन्त काल में भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता है।

*. जैनदर्शन प्राध्यापक, रीडर एवं अध्यक्ष, जैन-बौद्धदर्शन विभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान सङ्घाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आचार्यों ने सम्यग्दर्शन को आधार बनाकर दो दृष्टियों से विचार किया है— प्रथम यह कि जो जीव सम्यग्दर्शन से रहित हैं उन्हें अनन्तकाल तक क्या प्राप्त नहीं होता है और द्वितीय यह कि जो सम्यग्दर्शन से युक्त होते हैं उन्हें वर्तमान भव और आगामी भवों में क्या-क्या प्राप्त होता है। अर्थात् एक निषेधपरक दृष्टि और दूसरी विधिपरक दृष्टि। उपर्युक्त गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि निषेधपरक है। उन्होंने एक ही गाथा में सम्पूर्ण जिनवाणी का सार निचोड़कर कह दिया कि- अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य के निधान स्वरूप मोक्ष को सम्यग्दर्शन से रहित जीव त्रिकाल में भी प्राप्त नहीं कर सकता है। दूसरी ओर जो जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है उसकी कौन-कौन श्रेष्ठ उपलब्धियाँ होती हैं और वह कौन-कौन दुर्गतियों से बच जाता है, इसकी शास्त्रों में सार रूप में चर्चा की गयी है।

जिस सम्यग्दर्शन की इतनी महिमा है उसका सर्वप्रथम यहाँ लक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है।

महान् तार्किक आचार्य समन्तभद्र ने सम्यग्दर्शन का लक्षण करते हुये कहा है कि-तीन मूढ़ता और आठ मदों से रहित तथा आठ अङ्गों सहित सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यहाँ सच्चा देव वही है जो वीतरागी हो, सर्वज्ञ हो और हितोपदेशी हो। ऐसे आप्त के मुख से निकली वाणी सच्चा शास्त्र है और तदनुकूल आचरण करने वाला महान् व्यक्ति सच्चा गुरु है। इन तीनों पर श्रद्धान करना, साथ ही लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता तथा ज्ञानादि मदों से रहित होना सम्यग्दर्शन है।

विभिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न अनुयोगों की दृष्टि से सम्यग्दर्शन के पृथक्-पृथक् लक्षण प्रस्तुत किये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने भूतार्थ से अभिज्ञात जीवादि सात तत्त्वों एवं पुण्य-पाप— इस प्रकार नौ पदार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने आत्मविनिश्चिति अर्थात् आत्मप्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा है। इसी बात को महाकवि दौलतराम ने 'परद्रव्यन तै भिन्न आप में रुचि सम्यक्त्व भला है' इन शब्दों में दुहराया है। अन्यत्र स्व और पर के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रथमानुयोग और चरणानुयोग में सम्यग्दर्शन का जो स्वरूप बतलाया गया है वह प्रायः एक सा है। इन दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। क्योंकि इन दोनों में सच्चे देव, शास्त्र और गुरु पर श्रद्धान करना तथा भय, आशा, स्नेह और लोभ के वशीभूत होकर कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र पर श्रद्धान न करना सम्यग्दर्शन कहा गया है।

द्रव्यानुयोग की अपेक्षा तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है, जिसका प्रतिपादन आचार्य कुन्दकुन्द एवं उमास्वामी आदि ने किया है। चरणानुयोग और

द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के जो पृथक्-पृथक् लक्षण कहे गये हैं, उनमें भेद यह है कि चरणानुयोग गृहीत मिथ्यात्व के त्याग की बात करता है और द्रव्यानुयोग पर-पदार्थों के प्रति आत्मबुद्धि रूप जो अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व है उसके त्याग की चर्चा करता है।

करणानुयोग की अपेक्षा मिथ्यात्व, सम्यग्-मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया तथा लोभ— इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से होने वाले श्रद्धागुण की स्वाभाविक परिणति को सम्यग्दर्शन कहा है।

स्वामी कार्तिकेय ने सम्यक्त्व के उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक रूप तीन भेद बतलाये हैं। उनमें से क्षायिक सम्यक्त्व की विशेषता बतलाते हुये उन्होंने लिखा है कि— इसके होने पर यह छूटता नहीं है और जीव उसी भव अथवा तीसरे या चौथे भव में नियम से मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इस नियम का कभी उल्लङ्घन नहीं होता है। अतः क्षायिक सम्यग्दर्शन मोक्ष मार्ग में विशेष रूप से कार्यकारी है। मोक्षमार्ग और उसके फल में अन्तर है। मोक्षमार्ग साधन है और मोक्ष उसका फल है। इसीलिये आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय को मोक्षमार्ग का उपाय या साधन तथा निर्वाण को उसका फल बतलाते हुआ लिखा है—

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।

मग्गो मोक्खउवाओ तस्स फलं होइ णिव्वाणं।।

इस प्रकार विविध अनुयोगों की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के अनेक लक्षण शास्त्रों में बतलाये गये हैं, किन्तु यथार्थतः विचार किया जाये तो उन सभी का पर्यवसान एक है, केन्द्रबिन्दु एक है और वह है जीव को निर्वाण रूप फल की प्राप्ति कराने में सहायक होना। भिन्न-भिन्न अनुयोगों में प्रतिपादित सम्यग्दर्शन के भिन्न-भिन्न लक्षण होते हुये भी उन सभी का लक्ष्य जीव की मुक्ति के लिये आवश्यक भूमिका तैयार करना है। अतः निष्कर्ष के रूप में जिनेन्द्र वर्णी का यह कथन यथार्थ है कि— सम्यग्दर्शन के लक्षणों में स्वात्म-संवेदन प्रधान है, क्योंकि बिना इसके तत्त्वों की श्रद्धा आदि अकिञ्चित्कर है।

सम्यग्दर्शन के उक्त लक्षणों से इतना तो निश्चित है कि मोक्षाभिलाषी जीव को सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि वही मोक्षमार्ग का मूलाधार है।

मिथ्यात्व से ग्रस्त चित्त वाला व्यक्ति मनुष्य होकर के भी पशु के समान आचरण

करता है और सम्यग्दर्शन सम्पन्न पशु भी मनुष्य के समान आचरण करता है।

नरत्वेऽपि पशूयन्ते मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः ।

पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वयुक्तचेतसः ।। सागारधर्माभूत, १/४.

जैसे शरीर में दो हाथ, दो पैर, एक मस्तक, एक हृदय, एक पीठ और एक नितम्ब— ये आठ अङ्ग होने पर शरीर पूर्ण माना जाता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन के निःशङ्कित, निःकाङ्क्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना— ये आठ अङ्ग होने पर सम्यग्दर्शन पूर्ण माना जाता है। यदि इनमें से कोई एक भी अङ्ग रहित सम्यग्दर्शन हो तो वह अङ्गहीन सम्यग्दर्शन संसार परम्परा को छेदने में वैसे ही समर्थ नहीं है जैसे न्यूनाक्षरों वाला मन्त्र विष-वेदना को नष्ट करने में समर्थ नहीं होता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जब धरसेनाचार्य के पास पुष्पदन्त एवं भूतबलि नामक मुनिद्वय अध्ययनार्थ गये थे तो आचार्यश्री ने उन मुनियों की परीक्षा के लिये न्यूनाक्षरों और अधिकाक्षरों वाला मन्त्र देकर विद्यादेवियाँ सिद्ध करने के लिये प्रेरित किया था, किन्तु मन्त्राक्षरों में न्यूनाधिकता होने से वे मुनिद्वय विद्यादेवियों की सिद्धि करने में सफल नहीं हुये थे। अतः यही बात अङ्गहीन सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में भी कही गई है।

चाण्डाल जैसे निम्न कुल में पैदा होने पर भी यदि कोई जीव सम्यग्दर्शन से सम्पन्न हो जाता है तो वह आदर का पात्र है, जाति का वहाँ कोई बन्धन नहीं है। इसी प्रकार तिर्यञ्चयोनि में उत्पन्न कुत्ता भी धर्म (सम्यग्दर्शन) के कारण देवगति को प्राप्त हो सकता है। इसीलिये मोक्षमार्ग में भी सम्यग्दर्शन को कर्णधार अर्थात् खेवटिया कहा गया है। जिस प्रकार बीज के अभाव में वृक्ष की कल्पना नहीं की जा सकती है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि नहीं हो सकती है और उसके फलरूप निर्वाण तो कदापि नहीं। इसीलिये आचार्य समन्तभद्र को कहना पड़ा कि मोही (मिथ्यात्वी) मुनि से मोक्षमार्ग में स्थित निर्मोही (सम्यग्दृष्टि) गृहस्थ उत्तम है। मोक्षाभिलाषी जीव के लिये तीनों लोकों एवं तीनों कालों में सम्यक्त्व के समान अन्य कोई दूसरा कल्याणकारी नहीं है, क्योंकि यदि एक बार मात्र एक मुहूर्त के लिये मिथ्यादर्शन का नाश होकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाये तो फिर अथाह सुख के सागर मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है।

समयसार नाटक में महाकवि बनारसीदास भव्य जीवों को समझाते हुये कहते हैं कि —

बानारसि कहैं भैया भव्य सुनो मेरी सीख,
 कैहूं भांति कैसेहूंकै ऐसो काजु कीजिए।
 एकहूं मुहुरत मिथ्यात्व को विधुंस होइ,
 ग्यान को जगाई अंस हंस खोज लीजिए।
 वाहीकौ विचार वाकौ ध्यान यहै कौतूहल,
 यौही भरि जनम परम रस पीजिए।
 तजि भव-वासकौ विलास सविकार रूप,
 अन्तकरि मोह कौ अनन्तकाल जीजिए।।

पं० बनारसीदास जी कहते हैं कि— हे भाई भव्य! यदि मेरी बात मानो तो किसी भी प्रकार प्रयत्न करके ऐसा कार्य करो कि किसी प्रकार एक मुहूर्त मात्र के लिये मिथ्यात्व का नाश हो जाय और अपने ज्ञान को जाग्रत करके अपने आत्मा रूप हंस को खोज लो। तदनन्तर उसी का विचार, उसी का ध्यान करते हुये आजीवन परमानन्द रूप रस का पान करो और क्रमशः मोह का नाश करके विकाररूप संसार के वास का त्याग कर अन्त में सिद्धत्व पद प्राप्त कर अनन्तकाल तक सुख को प्राप्त करो।

यदि तूने एक बार मिथ्यात्व का त्याग करके मात्र सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लिया और अभी चारित्र की प्राप्ति नहीं भी हुई है अर्थात् अत्रती है तो भी सुन! तू अशुभरूप नरक और तिर्यञ्च—इन दो गतियों को प्राप्त नहीं होगा। मनुष्यगति में भी तू न तो नपुंसक होगा और न ही स्त्रीपर्याय को प्राप्त होगा। अब रही बात पुरुषपर्याय की तो पुरुषपर्याय में भी लोक निन्दित नीच कुल में तेरा जन्म नहीं होगा। अब कोई यह कहे कि यह सब होकर भी अल्पकाल में ही मृत्यु हो जाये तो क्या होगा? इसके लिये आचार्य कहते हैं कि हे सम्यग्दृष्टि भाई ! तेरी आयु अल्प नहीं होगी। अब बात रह जाती है कि ये सब कुछ प्राप्त भी हो गया, किन्तु सम्पूर्ण जीवन दरिद्री रहा तो दुःखी होना ही है। अतः आचार्य समन्तभद्र पुनः कहते हैं कि हे सम्यग्दृष्टि भाई! यदि तू व्रतों से रहित है तो भी तू दरिद्रता को प्राप्त नहीं होगा।

सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर इतना आश्चर्यन तो हनारे आचार्यों ने जिनवाणी के आधार पर दी ही है कि उक्त प्रतिकूल परिस्थितियों को सम्यग्दृष्टि जीव प्राप्त नहीं होगा। साथ ही यह भी सुनिश्चित है कि सम्यग्दर्शन से पवित्र होने पर यदि तूने व्रत रूप चारित्र को भी अपने जीवन में उतार लिया और उत्तरोत्तर चारित्र में वृद्धि करता गया तो तेरे ओज, तेज, विद्या, पराक्रम और कीर्ति में वृद्धि होगी। विजय को प्राप्त करेगा और वैभव सम्पन्न होगा। श्रेष्ठ कुल में जन्म लेगा। महान् पुरुषार्थों का साधक होगा और मनुष्यों में सिरमौर होगा। सम्यग्दृष्टि जीव अणिमा-महिमा आदि आठ

ऋद्धियों से सम्पन्न होता है। सन्तुष्ट होता है। अतिशय शोभा को प्राप्त करता है और स्वर्ग में गया तो वहाँ देव और देवाङ्गनाओं के साथ चिरकाल तक निवास करता है। सम्यग्दृष्टि जीव यदि मनुष्यगति को प्राप्त करता है तो वह वहाँ काल-महाकाल आदि नौ निधियाँ और चक्र-छत्र आदि चौदह रत्नों का स्वामी होता है। उसके चरणों में मुकुटधारी बत्तीस हजार बड़े-बड़े राजा-महाराजा सिर झुकाते हैं और षट्खण्डाधिपति होकर चक्ररत्न का प्रवर्तन करने में समर्थ होता है। और अधिक क्या कहें? तीनों लोकों के जीवों को शरण देने वाले तीर्थङ्कर पद को भी प्राप्त करता है और आत्मस्थ होकर अन्त में मुक्तिवधू का वरण करता है।

इससे स्पष्ट है कि मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की भूमिका अपरिहार्य है। इसलिये आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने भी जीव को सर्वप्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करने का उपदेश दिया है। वे कहते हैं—

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।

तस्मिन्सत्येव यतो भवति ज्ञानं चारित्रं च॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य २१

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र— इन तीनों में सर्वप्रथम सम्पूर्ण प्रयत्न द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि उसके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होते हैं।

मिथ्यादृष्टि के व्रत, तप, संयम आदि सभी बालतप के अन्तर्गत परिगणित होते हैं। इन बालतपों का अङ्कविहीन शून्यों से अधिक कुछ भी महत्त्व नहीं है। किन्तु यदि इन सब शून्यों के पूर्व में सम्यग्दर्शन रूपी अङ्क को प्रतिष्ठित कर दिया जाय तो उसके आगे जिनते भी शून्य होंगे उन सबकी महत्ता दस-दस गुणी बढ़ जायेगी और वे सभी व्रत, तप, संयम आदि सार्थक होकर मुक्ति प्राप्त कराने में सहायक होंगे।

आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है कि— जैसे सभी भवनों का आधार उसका मूल (नींव) है उसी प्रकार सभी व्रतों का आधार सम्यक्त्व है।

अधिष्ठानं भवेन्मूलं प्रासादानां यथा पुनः।

तथा सर्वव्रतानां च मूलं सम्यक्त्वमुच्यते॥

— श्रावकाचार, पद्य ११

अभ्रदेवकृत व्रतोद्योतन श्रावकाचार में भी सम्यग्दर्शन के बिना धारण किये गये व्रतों तथा समितियों एवं गुप्तियों के पालन रूप तेरह प्रकार के चारित्र को निरर्थक कहा है—

**पञ्च महाव्रतयुक्तं त्रिगुणित्गुप्तं च समितिसम्पन्नम्।
सम्यग्दर्शनरहितं निरर्थकं जायते वृत्तम्।।**

— व्रतोद्योतन, पद्य ३३६

अतः इससे भी यह स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन ही मुक्ति का बीज है। महाकवि दौतलराम ने सम्यग्दर्शन को मोक्ष-महल की प्रथम सीढ़ी कहा है।

मोक्ष महल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा।

योगीन्द्रदेवकृत श्रावकाचार में लिखा है— **दंसणभूमिहं बाहिरा जिय वयरुक्ख ण हुंति।** अर्थात् इस सम्यग्दर्शन की भूमिका बिना हे जीव! व्रत रूपी वृक्ष नहीं होते हैं। तात्पर्य यह कि सम्यग्दर्शन वह उपजाऊ भूमि है, जिसमें चारित्ररूपी वृक्ष उत्पन्न होता है और समय आने पर उसमें फल लगते हैं तथा क्रमशः पकने पर मोक्षरूपी मीठे फल को प्रदान करते हैं। अतः मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की भूमिका निस्सन्देह न केवल महत्त्वपूर्ण है, अपितु अनिवार्य है। सम्यग्दर्शन रूपी उपजाऊ भूमि में चारित्र रूपी वृक्ष के बिना मोक्षरूपी फल की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

सन्दर्भ :

१. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। — तत्त्वार्थसूत्र, १/१.



समराइच्चकहा में व्यवसायों का सामाजिक आधार

राघवेन्द्र प्रताप सिंह*

समराइच्चकहा आचार्य हरिभद्रसूरि की रचना है। इनका काल आठवीं शताब्दी सुनिश्चित है। **समराइच्चकहा** तद्युगीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक सूचनाओं के लिए मूलस्रोत के रूप में ग्रहणीय है।

अर्थ व्यक्तिगत जीवन की धुरी तथा समाज के विकास के प्रमुख आधारों में से एक है। पुरुषार्थ चतुष्टय के भारतीय आदर्श में भी अर्थ को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यद्यपि निवृत्तिपरक विचारधारा में मोक्ष को जीवन का परम उद्देश्य माना गया है; किन्तु त्रिवर्ग के अभाव में मोक्षरूपी चिरन्तन सुख की अनुभूति असम्भव है। धर्म एवं काम की उपलब्धि भी अर्थ के माध्यम से ही सम्भव है।^१ **समराइच्चकहा**^२ में त्रिवर्ग का सेवन करना भी लोकधर्म बताया गया है।

प्राचीन जैन आगमों में असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य एवं शिल्प को षट्कर्म बताया गया है। वस्तुतः **समराइच्चकहा**^३ भी इस विषय पर प्राचीन भारतीय वर्णव्यवस्था सम्बन्धी उसी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें बताया गया है कि ब्राह्मण लेखनी के बल से, क्षत्रिय युद्धविद्या से, वैश्य कृषि एवं वाणिज्य से तथा अन्य लोग जिनमें शूद्रादि को लिया जाता है, शिल्प एवम् अन्य लघु महत्त्व के कार्यों से अपनी आजीविका कमाते हैं।

प्राचीन भारतीय सामाजिक संगठन के सन्दर्भ में **समराइच्चकहा** में आर्य एवम् अनार्य जातियों का उल्लेख है। धार्मिक दृष्टि से उच्चतर आचार-विचार वाले लोगों को आर्य एवं धर्म-कर्म के व्यवहार से रहित लोगों को अनार्य की संज्ञा दी गयी है। आर्य जातियों के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्ण माने गये हैं। जैनसूत्रों में बंभण, खत्तिय, वइस्स और सुद्द नामक चार वर्णों का उल्लेख मिलता है।^४ शूद्र वर्ण में चाण्डाल, डोम्बलिक, रजक, चर्मकार, शाकुनिक, मछुवा आदि कई शाखाओं का नामोल्लेख है।^५

*. शोधछात्र, इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय.

यह आलेख डॉ० जिनकू यादव की पुस्तक **समराइच्चकहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन** से प्रेरणा प्राप्त कर लिखा गया है।

समराइच्चकहा से विदित होता है कि शूद्र वर्ण के अन्तर्गत आर्य एवम् अनार्य दोनों ही जातियों के लोग शामिल थे। **निशीथचूर्णी** में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार वर्णों का उल्लेख है।^६

ऋग्वेद एवम् अन्य ग्रन्थों में चारों वर्णों की उत्पत्ति क्रमशः विराटपुरुष के मुख, बाहु, जंघाओं एवं पैरों से बतायी गयी है।^७ लेकिन इन वर्णों की उत्पत्ति का वैज्ञानिक आधार व्यावसायिक था।^८ आदिपुराण में वर्णित है कि व्रत संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्र धारण से क्षत्रिय, न्यायपूर्ण धनार्जन से वैश्य और नीच वृत्ति से शूद्र की उत्पत्ति हुई।^९ **आदिपुराण** में ही एक अन्य स्थान पर उल्लिखित है कि आदिब्रह्म ऋषभदेव ने तीन वर्णों की स्थापना की थी। शस्त्र धारण कर आजीविका चलाने वाले क्षत्रिय, खेती, व्यापार एवं पशुपालन आदि द्वारा जीवनयापन करने वाले वैश्य तथा अन्य लोगों की सेवा-सुश्रुषा करने वाले शूद्र कहलाये।^{१०} **आदिपुराण** के आधार पर कुछ विचारकों का मत है कि भरत ने अपने पिता ऋषभदेव द्वारा उपदिष्ट धर्म के प्रचारार्थ क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों में से वृत्तिभेद के आधार पर चौथे वर्ण अर्थात् ब्राह्मण की स्थापना की और उन्हें ब्रह्मसूत्र से अलङ्कृत किया।

वाणिज्य-व्यवसाय

प्राचीनकाल में कृषि के अतिरिक्त देश की समृद्धि का मुख्याधार व्यापार-वाणिज्य था। **समराइच्चकहा** में हट्ट^{११} शब्द का उल्लेख है, यही हट्ट आजकल हाट अथवा बाजार के रूप में लिया जाता है। इन हाटों के मध्य सड़कें विस्तृत तथा चौरस होती थीं। भोजन, वस्त्र आदि उपभोग की सभी सामग्रियाँ बाजारों में उपलब्ध थीं।^{१२} व्यापार-वाणिज्य के साथ-साथ कृषि वैश्यों का प्रारम्भ से ही कर्म माना जाता रहा है; किन्तु आगे चलकर कृषि के स्थान पर वैश्यों ने व्यापार-वाणिज्य को ही प्राथमिकता प्रदान की। इसका कारण सम्भवतः जैनधर्म का प्रभाव माना जा सकता है, क्योंकि जैनधर्म में हिंसा प्रधान कृषि कर्म को त्याज्य एवं व्यापार-वाणिज्य को अहिंसक एवम् अनुकरणीय बतलाया गया है। **समराइच्चकहा** में व्यापार एवं वाणिज्य कार्य करने वालों को वणिजक तथा वणिक् नामों से सम्बोधित किया गया है।^{१३} **समराइच्चकहा** में व्यापारी वर्ग की तीन श्रेणियों या वर्गों का उल्लेख किया गया है— वणिजक अथवा वणिजक, सार्थवाह तथा श्रेष्ठी। **समराइच्चकहा** में सार्थवाह को ही कारवाँ बनाकर देश के अन्दर तथा देश के बाहर समुद्र पार तक व्यापार करते हुए बताया गया है।

स्थानीय व्यापारी

वणिक्— **समराइच्चकहा** में वणिक् उन्हें कहा गया है जो गाँवों की हाटों में तथा छोटे-छोटे शहरों में व्यापार करते थे। ये स्थानीय व्यापारी थे, जो स्थानीय लोगों की आवश्यकतानुसार वस्तुओं का क्रय-विक्रय कर उचित लाभ प्राप्त करते थे। प्रतिहार अभिलेख में बंका नामक एक व्यवसायी का उल्लेख है, जो विभिन्न स्थानों से व्यापार के योग्य सामग्रियों का क्रय करता था।^{१४}

सार्थवाह— ये लोग सार्थ (कारवाँ) बनाकर व्यापार के लिए देश के अन्दर दूरस्थ प्रदेशों को आया-जाया करते थे।^{१५} सार्थ बनाकर व्यापार करने के कारण ही इन्हें सार्थवाह कहा जाने लगा। सार्थवाह सार्थ अर्थात् कारवाँ का नेता होता था। जो धीरे-धीरे वैश्यों में एक महत्त्वपूर्ण वर्ग बन गया।^{१६} अधिक लाभ की प्राप्ति के लिए सार्थवाह समुद्र पार के द्वीपों में भी जाया करते थे।^{१७} ये बड़े ही धनी, प्रतिष्ठित तथा सम्पन्न व्यक्ति समझे जाते थे। राज्य भी इनका सम्मान करता था तथा इन्हें सार्थवाहपुत्र नामक आदरसूचक शब्द से सम्बोधित किया जाता था।^{१८} **समराइच्चकहा** धन, धरण, सुवदन आदि अनेक सार्थवाहों का वर्णन है।

श्रेष्ठी— **समराइच्चकहा** में श्रेष्ठियों को वैश्यों का तीसरा एवं सबसे सम्पन्न वर्ग माना गया है। धन और समृद्ध के ही आधार पर इन्हें श्रेष्ठी (सेठ) नाम प्रदान किया गया था।^{१९} ये एक ही स्थान पर ग्राम, नगर अथवा व्यापारिक केन्द्रों में केन्द्रित रहकर अपना व्यवसाय करते थे। मूल्यवान् वस्तुओं के क्रय-विक्रय के साथ-साथ ये लोग रुपये, पैसे का भी लेन-देन करते थे। समाज में इनको श्रेष्ठी की सम्मानसूचक पदवी प्राप्त थी।^{२०} व्यापारिक वृत्ति के होते हुए भी ये अन्य क्षेत्रों यथा धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में भी अपना योगदान देते थे।^{२१} **समराइच्चकहा** में एक स्थल पर नगर श्रेष्ठी का उल्लेख किया गया है।^{२२}

कृषि एवं पशुपालन— जैनसूत्रों में ऐसे अनेक वैश्यों का उल्लेख है, जो व्यापार-वाणिज्य के अतिरिक्त कृषि एवं पशुपालन का कार्य करते थे। **उत्तराध्ययनटीका** में वणिय ग्राम के धनी-सम्पन्न और जमींदार आनन्द नामक गृहपति को अपरिमित सुवर्ण, गाय-बैल, हल, घोड़ा, गाड़ी आदि का स्वामी बतलाया गया है। पराहार एक अन्य गृहपति था, जो कृषि कर्म में कुशल होने के कारण 'किसिपराशर' नाम से विख्यात था, वह ६०० हलों का स्वामी था।^{२३} कुड्यण्ण (कुविकर्ण) के पास बहुत-सी गायें थी एवं भरत चक्रवर्ती का गृहपति रत्न सर्वलोक में प्रसिद्ध था। वह शाल आदि विविध धान्यों का उत्पादक था और भरत के घर सब प्रकार के धान्यों के हजारों कुम्भ भरे रहते थे।^{२४} **समराइच्चकहा** में चावल, चना एवं गेहूँ की फसलों का विशेष उल्लेख किया गया है। फलों में नारंगी, कदली, आम्र, कंकोल (एक प्रकार का जंगली फल), पनस (कटहल), पूगफल (सुपारी), अंगूर आदि का उल्लेख है। पशुओं में गाय, बैल, भैस-महिष, बकरा-बकरी, भेंड़, गर्दभ, खच्चर, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली, शरभ, हाथी आदि के पाले जाने का उल्लेख भिन्न-भिन्न स्थलों पर हुआ है।

शिल्प व्यवसाय— **समराइच्चकहा** में तद्युगीन हस्तशिल्प के कुछ नाम आये हैं। वस्तुतः यह हस्तशिल्प लघु उद्योग का एक उदाहरण है। आचार्य हरिभद्रयुगीन समाज के आर्थिक गौरव की प्रसिद्धि विकसित उद्योगों पर ही अवलम्बित थी।

हस्तलाघव को हस्तशिल्प कहा जाता था।^{२५} हस्तकला से अर्थात् पूर्णतया मानव श्रम

से संचालित उद्योग को शिल्पकर्म या शिल्प भी कहा जाता था इसका रूप आधुनिक कुटीर उद्योग के समान था। प्राचीनकाल में शिल्प कौशल समाज के आर्थिक जीवन का मेरुदण्ड था। पूर्वमध्यकाल में इसी स्तम्भ के आधार पर आर्थिक पक्ष का सन्तुलित विकास सम्भव हुआ।

हरिभद्र के काल में आजीविका के एक अच्छे साधन एवं आर्थिक समृद्धि की दृष्टि से स्थानीय लघु उद्योगों का पर्याप्त महत्त्व था। **समराइच्चकहा** में वर्णित कुछ प्रमुख उद्योगों एवं व्यवसायों का वर्णन द्रष्टव्य है।

वस्त्र-उद्योग— समराइच्चकहा में कार्पाटिक^{२६} नामक शिल्पी का उल्लेख कई बार हुआ है। कार्पाटिक लोग वस्त्र तैयार करने का कार्य करते थे। पहनने के वस्त्रों में हरिभद्र ने अशुक (महीन रेशमी वस्त्र), पट्टांशुक (पाट सूत्र से बने रेशमी वस्त्र), चीनांशुक (अत्यधिक महीन रेशमी वस्त्र, चीन में निर्मित), दुकूल (दुकूल वृक्ष की छाल के रेशे से बना हल्का वस्त्र), देवदूष्य (मृदुल, महीन और रेशम के समान दिव्य वस्त्र), अर्ध चीनांशुक (आधा रेशमी और आधा सूती धागों से बना हुआ वस्त्र), क्षौमवस्त्र (अलसी की छाल से निर्मित वस्त्र), वल्कल वसन (पेड़ों की छाल से निर्मित जंगली जातियों अथवा साधु-संन्यासियों द्वारा पहने जाने वाला वस्त्र), आदि विविध भाँति के वस्त्रों का उल्लेख किया है।^{२७}

शरीर पर धारण किये जाने वाले कुछ अन्य वस्त्रों में स्तनाच्छादन (स्तनों पर धारण किया जाने वाला, रत्नों से जटित, आधुनिक कंचुकी के समान) एवं उत्तरीय (कमर से ऊपर ओढ़ने का वस्त्र) का उल्लेख मिलता है।^{२८} अन्य वस्त्रों में कम्बल (ओढ़े जाने वाला ऊनी वस्त्र), तुली (रुई से भरा हुआ तकिया), गण्डोपधान (बैठने का गोल तकिया), अलगणिका (सोते समय प्रयोग की जाने वाली मसनद), चेलवस्त्र (दरी, गलीचा, तम्बू आदि में प्रयुक्त होने वाला मजबूत कपड़ा) आदि का विवरण प्राप्त होता है।^{२९}

समराइच्चकहा में वस्त्रशोधक^{३०} का भी उल्लेख है जिसका आशय रजक अर्थात् धोबी से है।

प्राचीन समय में सूती कपड़ों का निर्यात किया जाता था। काशी के वस्त्र इसमें भी विख्यात थे तथा अपरांत (कोंकण), सिन्ध और गुजरात में अच्छे कपड़े बनते थे।^{३१} नेपाल, सिन्धु और सौवीर तथा ताप्रलिप्ति सुन्दर वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध थे।

हरिभद्रकालीन वस्त्र उद्योग की समृद्धि की सम्पुष्टि अरब यात्रियों के वर्णनों से भी होती है। सुलेमान के अनुसार भारत से ९वीं शताब्दी ई० में उच्चकोटि के वस्त्रों का निर्यात विश्व के अन्य देशों को प्रचुरता से किया जाता था।^{३२} समसामयिक विदेशी वृत्तान्तों में भारतीय वस्त्र उद्योग की यह प्रशंसा हरिभद्रकालीन भारतीय वस्त्र उद्योग की समृद्ध स्थिति का निदर्शन है।

आभूषण उद्योग— समराइच्चकहा^{३३} में सुवर्णकारों का उल्लेख है। ये सोने-चाँदी आदि धातुओं से विभिन्न प्रकार के आभूषण तैयार करते थे। धातुओं को तपाकर आभूषण तैयार करने की विधि आभूषण बनाने में की जाती थी। हरिभद्रकालीन प्रचलित आभूषणों में कुण्डल^{३४} (कर्णाभूषण), कटक (कलाई में पहने जाने वाला आभूषण), केयूर^{३५} (नुपूर-पैर का आभूषण), मुद्रिका (अंगूठी), कंकण^{३६} (कलाई का आभूषण), रत्नावली^{३७} (रत्नों की माला), हार,^{३८} एकावली^{३९} (मोतियों की एक लड़ी की माला), मणिमेखला (करधनी), कटिसूत्र (कमर का अलंकरण), कण्ठक^{४०} (कण्ठ या गले का आभूषण), मुकुट (सिर पर धारण करने वाला अलंकरण), चूणामणि^{४१} (केशों में धारण किया जाने वाला आभूषण) आदि प्रमुख थे। ये विविध प्रकार के आभूषण इस उद्योग की प्रगति के परिचायक हैं।

लोह-व्यवसाय— लोहे की जनोपयोगिता इसके प्रारम्भिक काल से ही चली आ रही है। समराइच्चकहा में लोहे के कुछ उपकरणों यथा लोहपिंजर, लोह शृङ्खला, लोहे की कीलों आदि का अनेक बार उल्लेख हुआ है। लोहे की बनी वस्तुओं में कुदाली, फरसा, छुरी, सूई, आरा, नहनी आदि के नाम एवं कार्य का वर्णन अन्य जैन ग्रन्थों में भी किया गया है।^{४२} लोहे की भट्टियों में कच्चा लोहा पकाया जाता था और फिर नेह (अहिकरणी) पर रखकर कूटा जाता था। इस प्रकार लोहे को हथौड़े से कूट, पीट एवं काट-छाँट कर उपयोगी वस्तुएँ तैयार की जाती थीं।

अन्य व्यवसाय— समराइच्चकहा में विवेचित अन्य उद्योग-धन्धों में चमड़े का व्यवसाय करने वालों को चर्मकार कहा गया है।^{४३} चित्रकारी का व्यवसाय प्रचलित था, मकानों, वस्त्रों, बर्तनों एवं कागजों आदि पर चित्र बनाया जाता था।

प्राचीन जैन ग्रन्थों की तरह कुछ हिंसक कर्मों को समराइच्चकहा में भी 'खरकर्म' की श्रेणी में रखा गया है तथा इसे जैन मतानुयायियों के लिए वर्जित किया गया है।^{४४} लेकिन ये कर्म समाज में व्यवहार में लाये जाते थे तथा कुछ लोगों की जीविका के आधार थे। इन निषिद्ध व्यवसायों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

इंगालकम्म^{४५}— कोयला, ईट आदि बनाकर बेचने वाला कर्म इंगालकम्म कहा जाता था।

वणकम्म^{४६}— जंगलों से लकड़ियाँ काटकर तथा उसे बेचकर आजीविका चलाना वणकम्म कहा जाता था।

भडियकम्म— भाड़े पर घोड़े, गाड़ी, खच्चर और बैल आदि से बोझ ढोकर आजीविका चलाना।

दंत वाणिज्य^{४७}— हाथीदाँत आदि का व्यवसाय करना।

९२ : श्रमण/जनवरी-जून २००२ संयुक्तांक

लक्ख वाणिज्य^{४८}— लाख का व्यापार कर आजीविका चलाना।

केश वाणिज्य^{४९}— भेड़-बकरियों का बाल काटकर और उन्हें बेचकर आजीविका चलाना।

रस वाणिज्य^{५०}— दूध-दही, मधु, मक्खन आदि को बेचकर जीविका चलाना।

विष वाणिज्य^{५१}— विषाक्त वस्तुओं का व्यवसाय।

निल्लक्षणकम्म^{५२}— शरीर के अंगों (नाक, कान आदि) छेद कर आजीविका कमाना।

जंतपीलणकम्म^{५३}— कोल्हू चलाने का व्यवसाय।

दावग्गि दावणयकम्म^{५४}— जंगल आदि जलाने के लिए आग लगाना या लगवाना।

असइपोषण^{५५}— कुत्ता-बिल्ली आदि जानवर तथा दास-दासी आदि पालकर बेचना या भाड़े से आय कमाना।

सगडिकम्म^{५६}— गाड़ी जोतकर आजीविका चलाने वाला कर्म।

सरहद तलायस्सोसणाय^{५७}— तालाब, द्रह आदि सुखाकर आय प्राप्त करने वाला कर्म।

गरुडिया^{५८}— गारुडिक मन्त्र आदि जानने वाले गारुडिया कहे जाते थे। ये लोग विषैले सर्पों के काटने पर मन्त्रोषधि द्वारा उपचार कर जीविका चलाते थे।

इन उपेक्षित वर्ग के व्यवसायों जिनमें से अधिकांश को प्राचीनकाल से ही हतोत्साहित करने का प्रयास हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने किया है, उसी परम्परा का पालन करते हुए जैन आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी निषिद्ध बताया है जबकि इनमें से कुछ व्यवसाय तो दैनिक जीवनचर्या के सकुशल सम्पादन के लिये अपेक्षित थे। अतः निन्दनीय होने पर भी इनका अस्तित्व समाज में बना रहा।

सन्दर्भ- सूची

१. 'तिवग्गसाहणपरं' — द्र० समराइच्चकहा, ९.८६५-६६, अहमदाबाद, प्रथम भाग १९३८, द्वितीय भाग, १९४२.

तुलनीय अर्थशास्त्र १, ७ "अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः।" अर्थमूलौ हि धर्मकामौ इति।" एवं तुलनीय, पराशर, ८.३ अर्थ मूलौ धर्म कामौ।

२. समराइच्चकहा ९, पृ० ८६६.

३. वही, ८, ७३४-३५; हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० २८४.
४. उत्तराध्ययनसूत्र २५-३१, विपाकसूत्र ४, पृ० ३३, आचारांगनिर्युक्ति १९-२७, उद्धृत- जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी १९६५, पृ० २२३.
५. समराइच्चकहा, ४, पृ० ३४८.
६. निशीथचूर्णी ३, पृ० ४१३. 'जहा बंभण जाति कुलेसु खत्तिसु सग्ग कुला, आदिसदातो वइस-सुदेसु विा' यादव, समराइच्चकहा : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ९२.
७. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहूराजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यदवैश्यः पदभ्याम् शूद्रोऽजायत्॥ ऋग्वेद, पुरुषसूक्त, १०.९०, १२.
८. 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'। श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ४, श्लोक १३.
९. आदिपुराण, ३८, ४५-४६.
१०. आदिपुराण, १६, १८४-८६.
११. समराइच्चकहा, ७.७१७.
१२. वही, ७, पृ० ७१७ 'हृष्टाओ अहं किंपि भोयणजायं तथा ३, १७२-चेलादिभाण्डं.
१३. वही, ४, पृ० २६८; ५, पृ० ५२३.
१४. इपिग्राफिका इण्डिका, २०, पृ० ५५.
१५. समराइच्चकहा, ६, पृ० ५०७.
१६. वही, २, पृ० १०५, १३-१४, ११६-१७-१८, १२१-२२, १२४, १३२; ३, १७२; ४, पृ० २३७, २४०, ३५९-६०; ७, पृ० ६६८.
१७. वही, ५, पृ० ४०३, ४१६, ४२६, ४३२, ४७६, ४७९; ६, पृ० ४९९, ५०६, ५२२, ५२४; ७, पृ० ६१०.
१८. वही, ६, पृ० ५४१-४२, ५५२; ७, पृ० ६५२-५३-५४, ६५८, ६६१, ६६८.
१९. वही, ३, पृ० १८४; ५, पृ० ३९८; ८, पृ० ८०७.
२०. वही, १८७; ४, पृ० २४०, २७९, ३५०, ३५३; ६ पृ० ५७८, ५८३; ८ पृ० ८२८-२९; ९ पृ० ८७, ९०४, ९२५, ९३६, ९५३-५४.
२१. वही, ४, पृ० २३४, २३७, ३२६; ६ पृ० ४९४-९५-९६, ५५०.
२२. वही, ४, पृ० २७८.

१४ : श्रमण/जनवरी-जून २००२ संयुक्तांक

२३. वही, २, पृ० १४१, द्रष्टव्य डॉ० जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २२९.
२४. आवश्यकचूर्णी, पृ० ४४ एवं पृ० १९७-९८, द्रष्टव्य; जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २३०.
२५. शिल्प स्यात् कौशलम्, द्रष्टव्य, आदिपुराण, १६.१८२.
२६. समराइच्चकहा, ४, पृ० २५७, २८५.
२७. वही, अंशुक-१, पृ० ७४, पट्टार्शुक १, पृ० ७४, चीनांशुक-५, पृ० ४३८, दुकूल ४, पृ० २९७, दूवदूष्य, ४, पृ० ६३४-३५, वल्लकलवसन, ८, पृ० ७९८.
२८. वही, स्तनाच्छादन २, पृ० ९५; उत्तरीय, ४, पृ० २५४.
२९. वही, कम्बल-७, पृ० ६५६; तुली ९, पृ० ९७४, गण्डोपधान ९, पृ० ९७४.
३०. वही, १, पृ० ५१.
३१. उद्धृत सार्थवाह, मोतीचन्द्र, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना १९६६ ई०, पृ० १७२.
३२. इलियट एण्ड डाउसन, पृ० ३४.
३३. समराइच्चकहा, ६ पृ० ५६०.
३४. वही, ९.९११; २ पृ० ९६, १००, १३१.
३५. वही, १, पृ० ३१; २, पृ० १००; ७, पृ० ६३८.
३६. वही, ६, पृ० ५९७, ठवेमि एयस्स समीवे छिन्न कंकणं कण्ठाहरणं।
३७. वही, ४, पृ० २५४, २८५.
३८. वही, २, पृ० ७६, ९६, १००; ३८०, ४५२ ९.९११.
३९. वही, ९, पृ० ९११.
४०. वही, ५, पृ० ३८४; ६, पृ० ५९७; ७, पृ० ६४४.
४१. वही, २, पृ० ८५, ९६ आदि.
४२. बृहदकल्पसूत्रभाष्य, १/२८८३; उत्तराध्ययनसूत्र, १९-६६, आवश्यकचूर्णी, पृ० ५२९, यादव, पृ० १७३.
४३. समराइच्चकहा, ४, पृ० ३४८.
४४. वही, १, पृ० ६२.
४५. वही, १, पृ० ६२-६३, देखिये भगवती सूत्र, ८/५/२४२.
४६. वही, १, पृ० ६२-६३; देखिये भगवती सूत्र, ८/५/२४२.
४७. वही, १, पृ० ६२-६३; देखिये भगवती सूत्र, ८/५/२४२.

४८. वही, १, पृ० ६२-६३; देखिये **भगवती सूत्र**, ८/५/२४२.
४९. वही, १, पृ० ६२-६३; देखिये **भगवती सूत्र**, ८/५/२४२.
५०. वही, १, पृ० ६२-६३; देखिये **भगवती सूत्र**, ८/५/२४२.
५१. वही, १, पृ० ६२-६३; देखिये **भगवती सूत्र**, ८/५/२४२.
५२. वही, १, पृ० ६२-६३; देखिये **भगवती सूत्र**, ८/५/२४२.
५३. वही, १, पृ० ६२-६३; देखिये **भगवती सूत्र**, ८/५/२४२.
५४. वही, १, पृ० ६२-६३; देखिये **भगवती सूत्र**, ८/५/२४२.
५५. वही, १, पृ० ६२-६३; देखिये **भगवती सूत्र**, ८/५/२४२.
५६. वही, १, पृ० ६२-६३; देखिये **भगवती सूत्र**, ८/५/२४२.
५७. वही, १, पृ० ६२-६३; देखिये **भगवती सूत्र**, ८/५/२४२.
५८. वही, २, पृ० १३२; ४, पृ० २५५.



जैन दर्शन में परमात्मा का स्वरूप एवं स्थान (शोधप्रबन्धसार)

श्रीमती कल्पना

मनुष्य स्वभाव से एक चिन्तनशील प्राणी है, चिन्तनशील मानव को सदा से यह विकल्प रहा है कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, यह प्रपञ्चात्मक जगत् क्या है, अनुभव से अनवरत रूप से आने वाला प्रतीति गोचर समस्त परिपार्श्व क्या है तथा मानव-जीवन का अन्तिम गन्तव्य क्या है?

भौतिक सुख की उपलब्धि ही परम श्रेय है या इसके अतिरिक्त भी जीवन का कोई साध्य है। भारतीय दर्शन में इन सभी प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। भारतीय दर्शन मूलतः आध्यात्मिक है, दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति कैसे हो, इस प्रश्न का उत्तर देने में ही भारतीय दर्शन की चरितार्थता है, चूँकि दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है, इसलिए वेदों से लेकर आधुनिक युग के प्रमुख भारतीय दार्शनिकों ने मानव जीवन का मूल प्रयोजन आत्मज्ञान को मानते हुए आत्मा को ही अपने चिन्तन का प्रमुख विषय माना है। भारतीय दर्शन में आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न अवधारणाएं प्राप्त होती हैं। आत्मा, जीव, परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म आदि अनेक रूपों में विभिन्न दर्शनों तथा उनकी तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि में व्याख्यायित हैं।

आत्मा के शुद्ध, बुद्ध, नित्य स्वरूप को ही परमात्मा कहा गया है। परमात्मा की अवधारणा भारतीय वाङ्मय में मुख्य रूप से दो रूपों में मिलती है— (१) आत्मा के शुद्ध, नित्य, बुद्ध, इन्द्रियातीत, अगोचर, अव्यय एवम् अविनाशी रूप में, (२) ईश्वर या जगत् के सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता एवं संहारकर्ता के रूप में।

परमात्मा की प्रथम अवधारणा के सन्दर्भ में विचार करें तो प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा की सत्ता को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। वे मूलतः आत्मा को शुद्ध, बुद्ध, निर्मल और निर्विकार मानते हैं, यह आत्मा निर्विकार ही अविद्या, माया व कर्म से सम्पृक्त हो संसारी अवस्था या बन्धन को प्राप्त होती है। शुद्ध आत्मा तो निर्विकार, निरवयव व मुक्त है। श्रमण-परम्परा के प्रतिनिधि जैन दर्शन में आत्मा को ही केन्द्र में रखकर उसे

* शोधच्छात्रा, दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५

ही समस्त आचार-विचार का आधार माना गया। जैन दर्शन में आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा ये तीन भेद किये गये। बहिरात्मा और अन्तरात्मा जहाँ कर्म परमाणुओं से संयुक्त जीव के ही दो रूप हैं, वहीं परमात्मा आत्मा का शुद्ध मुक्त स्वरूप है। दूसरे शब्दों में आत्मा ही परमात्मा है— “अप्पा सो परमप्पा”। आत्मा और परमात्मा में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है अन्तर केवल कर्मावरण का है। निरावरण शुद्ध चेतना ही परमात्मा है। वह केवल ज्ञान, केवल दर्शन, स्वभाव अनन्त चतुष्टय से युक्त शाश्वत, अविनाशी तथा समस्त अन्तःबाह्य विभावों से मुक्त है।

अतः जैन दर्शन में परमात्मा, आत्मा की ही नित्य शुद्ध अवस्था है। परमात्मा का दूसरा रूप ईश्वर है, जिसे भारतीयदर्शन में जगत् के आदि कारण के रूप में माना गया है। ईश्वर की अवधारणा को सृष्टिमूलक, प्रयोजनमूलक आदि आधारों पर सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। परमात्मा को सृष्टिकर्ता के रूप में मानने वाले दार्शनिक यह मानते हैं कि यह जगत् एक कार्य-कारण के अनिवार्य नियम द्वारा सञ्चालित है, सृष्टि कार्य होने से उसका मूल कारण परमात्मा है।

जैनदर्शन में परमात्मा या ईश्वर की ऐसी किसी भी सत्ता का निषेध किया गया है, जो इस विश्व का सृजनकर्ता, पालक व संहारक, नित्य, पूर्ण और मनुष्य के सद, असद कर्मों का फल प्रदाता है। जैनदर्शन यह मानता है कि सृष्टि अनादि है। जितने भी दर्शन ईश्वर को सृष्टिकर्ता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, वे अनेक विसंगतियों में पड़ जाते हैं, तथा जगत् और स्रष्टा की, सुख-दुःख के वैषम्य की युक्ति-युक्ति व्याख्या नहीं कर पाते। अतः परमात्मा ईश्वर नहीं अपितु आत्मा की ही परम विशुद्ध अभिव्यक्ति है। परमात्मा को पाना अन्ततः अपने विशुद्ध रूप को ही पाना है। प्रत्येक आत्मा विराट् शक्ति का देदीप्यमान पुञ्ज है। ईश्वरत्व या परमात्म भाव बहिर्गत नहीं बल्कि उसी में है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा होने की क्षमता निहित है। जो इस क्षमता को प्रकट कर लेती हैं, वे परम विशुद्ध आत्माएं संसार सागर को पार कर अपने शुद्ध स्वरूप में अनन्त काल तक अवस्थित रहती हैं। ये मुक्त आत्माएं ही परमात्मा, सर्वज्ञ और तीर्थङ्कर कहलाती हैं।

जैनों का तीर्थङ्कर कोई ईश्वर या अवतार नहीं है, वह तो आध्यात्मिक विशुद्धि को प्राप्त हो चुका साधारण मानव है। कर्मजन्य समस्त दोषों से मुक्त होकर वह आत्मशुद्धि के महान् शिखर पर पहुँच जाता है और समस्त विश्व का ज्ञाता-द्रष्टा बन जाता है।

अतः जैनधर्म में मनुष्य से बढ़कर कोई प्राणी नहीं है। जैनदर्शन की विशेषता है कि उसने मनुष्य के भाग्य को उसके हाथों में सौंप दिया है और कर्मों का फलनियन्ता किसी ईश्वर विशेष का सर्वथा निषेध किया। वस्तुतः जैनदर्शन के अनुसार मानवीय चेतना का चरम विकास ही ईश्वर तत्त्व है। परमात्मा या ईश्वर कोई एक व्यक्ति विशेष नहीं अपितु एक आध्यात्मिक भूमिका विशेष है जिसे पाने में हर मानव सक्षम है, जो आध्यात्मिक विकास

की उच्च भूमिका तक पहुँच जाता है, वह स्व में संलीनता प्राप्त कर लेता है और परमात्मा हो जाता है।

यद्यपि सिद्धान्ततः जैनदर्शन में ईश्वर का खण्डन किया गया है पर व्यावहारिक रूप से इस धर्म में भी कालान्तर में हिन्दू धर्म के प्रभाव से उस ईश्वर का प्रवेश हो गया जो हमारी भौतिक मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाला है। वस्तुतः तीर्थङ्कर किसी की स्तुति या निन्दा से न तो प्रसन्न होता है, न अप्रसन्न। पर अन्यान्य दर्शनों की भाँति जैनदर्शन में आर्त मानव के कल्याणार्थ अन्तःप्रेरणापुञ्ज के रूप में ईश्वरत्व का समावेश पाया जाता है।

जैनदर्शन में परमात्मा सम्बन्धी उपर्युक्त विचारों को हमने अपने शोधप्रबन्ध “जैनदर्शन में परमात्मा का स्वरूप एवं स्थान” में गुम्फित करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से सम्पूर्ण शोधप्रबन्ध को हमने पाँच अध्यायों में विभक्त किया है—

प्रथम अध्याय— इस अध्याय में हमने आत्मा, ब्रह्म और ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा, आत्मा, ब्रह्म और ईश्वर शब्द का अर्थ विश्लेषण, आत्मा और परमात्मा, स्वरूप और सन्दर्भ, परमात्मा और ईश्वर की अवधारणाएँ और अनीश्वरवादी अवधारणाओं का तात्पर्य तथैव अनीश्वरवादी सम्प्रदाय में परमात्मा सम्बन्धी अवधारणा— परमात्मा की अवधारणा का महत्त्व और उपयोगिता की गवेषणा की है। इस अध्याय में हमने यह दिखाने का प्रयास किया है कि आत्मा के मौलिक, सार्वभौम और अन्तस्थ सिद्धान्त के क्रमिक अन्वेषण के रूप में प्रारम्भ हमें वेदों से करना पड़ता है। वेदों की अभिरुचि का मुख्य केन्द्र- वरुण, इन्द्र, रुद्र, चन्द्रमा आदि देवता हैं, जिनकी स्तुति उपासना से मृत्यु लोकवासी मनुष्य अभिलषित वस्तुओं को प्राप्त कर सकता है। धीरे-धीरे वैदिक ऋषि बहुदेववाद की असन्तोषप्रद धारणा से ऊब कर निखिल विश्व के आदि कारण उस परमतत्त्व की खोज में तत्पर हुए, जो सबका मूल व सर्वनियन्ता है। इसी प्रक्रिया में वह परमसत् को बाह्य जगत् में न पाकर अपने ‘स्व’ में ढूँढ़ना आरम्भ किया जिसका विस्तृत विवेचन आगे चलकर वेद के अन्तिम भाग उपनिषदों में हुआ।

आत्मतत्त्व के चिन्तन की जो धारा उपनिषदों में प्रवाहित हुई उसका विकास समाप्त नहीं हुआ। कालक्रम से विकसित होने वाले विविध वैदिक दर्शनों (मुख्य रूप से आस्तिक षड्दर्शन) में आत्मतत्त्व चिन्तन प्रधान विषय बन गया। उपनिषदोत्तर कालवर्ती दार्शनिकों ने आत्मा के स्वरूप का स्वतन्त्र दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक गहन चिन्तन और तत्सम्बन्धी अपनी धारणाएँ प्रस्तुत कीं जिसका विस्तृत विवरण शोधप्रबन्ध के अगले अध्यायों में है।

द्वितीय अध्याय— इस अध्याय में जिन विषयों पर विवेचन है, वे हैं— जैनदर्शन और त्रिविध आत्मा की अवधारणा, जैनदर्शन में जीव और आत्मा (समानता और अन्तर) त्रिविध आत्मा की अवधारणा और ऐतिहासिक विकासक्रम, त्रिविध आत्मा की अवधारणा

और औपनिषदिक चिन्तन, बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का सामान्य लक्षण और इनका पारस्परिक सम्बन्ध तथा जैनदर्शन में परमात्मा के स्थान की व्याख्या की गयी है। इस अध्याय में हमने यह दिखाने का प्रयास किया है कि न्याय-वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त में जिसे 'आत्मा' और सांख्ययोग में जिसे 'पुरुष' कहा गया है, वही तत्त्व जैनदर्शन में 'आत्मा' या 'जीव' कहलाता है। इस आत्मा के तीन भेद हैं— बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इन्द्रियाँ बहिरात्मा हैं, आत्मा का सङ्कल्प अन्तरात्मा है और कर्मरूपी कलङ्क से रहित आत्मा, परमात्मा कहलाता है। वह परमात्मा मलरहित है, कला- अर्थात् शरीर से रहित है, अतीन्द्रिय है, केवल है, विशुद्धात्मा है, परमेष्ठी है, परम जिन शिवशङ्कर है तथा शाश्वत और सिद्ध है।

तृतीय अध्याय— इस अध्याय में परमात्मा का स्वरूप एवं प्रकार, अनन्तचतुष्टय का स्वरूप एवं प्रकार, तीर्थङ्कर की अवधारणा, तीर्थङ्कर की विशेषताएँ, तीर्थङ्कर बनने सम्बन्धी साधना, तीर्थङ्कर के प्रतिहार्य (अष्ट प्रतिहार्य), ३४ अतिशय, वचनीतिशय के ३५ प्रकार, सिद्ध के प्रकार, विभिन्न दृष्टियों से सिद्धों की विवेचना तथा सिद्ध आत्माओं का निवासस्थान सिद्धशिला आदि का विवेचन है। इस अध्याय में यह दिखाने का प्रयास है कि वह परमात्मा विशुद्धात्मा है, अर्थात् उनका आत्म-स्वभाव कर्ममल कलङ्क से रहित होने के कारण अत्यन्त शुद्ध है। इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्र और मुनीन्द्रों के द्वारा वन्दित परम उत्कृष्ट पद में स्थित होने से परमात्मा परमेष्ठी कहलाता है। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु के भेद से परमेष्ठी के पाँच भेद हैं। परमात्मा उन्हीं पञ्चपरमेष्ठी रूप है।

चतुर्थ अध्याय— इस अध्याय में हमने जैनदर्शन में ईश्वरवाद की समीक्षा, प्राचीन जैनागमों में ईश्वर के सृष्टि अकर्तृत्व, दार्शनिक ग्रन्थों में ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व की समीक्षा, ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व को अस्वीकार करके भी जैनों ने आराध्य और उपास्य के रूप में परमात्मा की अवधारणा को स्वीकार किया यह बताने का प्रयास किया है तथा अवतारवाद, उत्तारवाद (उत्थानवाद) आदि की विस्तृत चर्चा की है। इसमें हमने यह दिखाने का प्रयास किया है कि जैनदर्शन में आत्मा की परम विशुद्ध अभिव्यक्ति ही ईश्वर है। जैनदर्शन में किसी ईश्वर विशेष का उल्लेख नहीं मिलता है, परन्तु प्रत्येक आत्मा विराट् शक्ति का देदीप्यमान पुञ्ज है, और वही ईश्वर या परमात्मा है। जैनदर्शन सृष्टिकर्ता ईश्वर को नहीं मानता, क्योंकि जैनदर्शन के अनुसार सृष्टि अनादि है।

पञ्चम अध्याय : उपसंहार— इस अध्याय में समस्त शोधप्रबन्ध की समीक्षा प्रस्तुत है और यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि जैनदर्शन में परमात्मा का एक प्रमुख स्थान है। साथ ही अन्य भारतीय दर्शनों में वर्णित परमात्मा के स्वरूप से कई सन्दर्भों में भिन्न भी है। आत्मा या स्व की परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठा जैनदर्शन की अपूर्व देन है।



जैनागम में भारतीय शिक्षा के मूल्य

दुलीचन्द जैन 'साहित्यरत्न'

पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के दुष्परिणाम

हमारे देश को स्वतन्त्र हुए अर्द्धशताब्दी व्यतीत हो चुकी है और सन् १९९७ में हमने इसकी स्वर्ण जयन्ती मनायी थी। लेकिन यह हमारा दुर्भाग्य है कि इतने वर्षों के बाद भी हमने भारतीय शिक्षा के जो जीवन-मूल्य हैं उनको अपनी शिक्षा-पद्धति में विनियोजित नहीं किया। हमलोगों ने पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली को ही अपनाया। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि जहाँ एक ओर देश में शिक्षण संस्थाओं में निरन्तर वृद्धि हो रही है, जिनमें करोड़ों बच्चे शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, वहीं जीवन-उत्थान के संस्कार हमारे ऋषियों, तीर्थङ्करों एवम् आचार्यों ने जो प्रदान किये थे, वे आज भी हम अपने बच्चों को नहीं दे पा रहे हैं। एक विचारक ने ठीक ही कहा है कि 'वर्तमान भारतीय शिक्षा-प्रणाली न 'भारतीय' है और न ही वास्तविक 'शिक्षा'।' भारतीय परम्परा के अनुसार शिक्षा मात्र सूचनाओं का भण्डार नहीं है, शिक्षा चरित्र का निर्माण, जीवन-मूल्यों का निर्माण है। डॉ० अल्तेकर ने प्राचीन भारतीय शिक्षा के सन्दर्भ में लिखा है— 'प्राचीन भारत में शिक्षा अन्तर्ज्योति और शक्ति का स्रोत मानी जाती थी, जो शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक शक्तियों के सन्तुलित विकास से हमारे स्वभाव में परिवर्तन करती और उसे श्रेष्ठ बनाती है। इस प्रकार शिक्षा हमें इस योग्य बनाती है कि हम एक विनीत और उपयोगी नागरिक के रूप में रह सकें।' स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अनेक समितियों एवं शिक्षा आयोगों ने भी इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया और इस बात पर जोर दिया कि हमारे राष्ट्र के जो सनातन जीवन मूल्य हैं, वे हमारी शिक्षा पद्धति में लागू होने ही चाहिए। सन् १९६४ से १९६६ तक डॉ० दौलत सिंह कोठारी, जो एक प्रतिष्ठित वैज्ञानिक थे, की अध्यक्षता में कोठारी आयोग का गठन हुआ। इसने अपने प्रतिवेदन में कहा— 'केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों को नैतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित शिक्षा का प्रबन्ध अपने अधीनस्थ संस्थाओं में करना चाहिए।' सन् १९७५ में एन०सी०ई०आर०टी० ने अपने प्रतिवेदन में कहा— 'विद्यालय पाठ्यक्रम की संरचना इस ढंग से की जाये कि चरित्र निर्माण शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य बने।'

हमारे स्थायी जीवनमूल्य

हमारे संविधान में 'धर्मनिरपेक्षता' को हमारी नीति का एक अंग माना गया है।

* सचिव, जैन विद्या अनुसन्धान प्रतिष्ठान, चेन्नई.

‘धर्मनिरपेक्षता’ शब्द ही भ्रामक है, क्योंकि भारतीय-परम्परा के अनुसार हम ‘धर्म’ से निरपेक्ष नहीं रह सकते। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ मात्र इतना ही हो कि राज्य किसी विशेष धर्म का प्रचार नहीं करे, तब तक तो ठीक है, लेकिन इसका अर्थ धर्म से विमुख हो जाना कदापि नहीं है। हमारे देश में प्राचीनकाल से ही तीन धर्मों की धाराएं मुख्य रूप से बहीं— वैदिकधर्म, जैनधर्म और बौद्धधर्म। बाद में सिक्खधर्म भी प्रारम्भ हुआ। इन चारों धाराओं ने कुछ ऐसे नैतिक व आध्यात्मिक मूल्य स्थापित किये, जिन्हें सनातन जीवन-मूल्य कह सकते हैं और वे प्रत्येक मानव पर लागू होते हैं। उनका हमारी शिक्षा प्रणाली में विनियोजित होना अत्यावश्यक है।

भौतिक व आध्यात्मिक ज्ञान का समन्वय

प्राचीन आचार्यों ने विद्या का स्वरूप बताते हुए कहा है— “सा विद्या या विमुक्तये” अर्थात् विद्या वह है जो हमें विमुक्त करती है। विद्या किस चीज से विमुक्त करती है, तो कहा गया कि हममें जो तनाव की स्थिति है, दुःख की स्थिति है, आकुलता और व्याकुलता है, वे सब चाहे शारीरिक स्तर पर हों या मानसिक स्तर पर, उनसे मुक्त कराने वाला साधन विद्या ही है। जैन भावना के अनुसार हम कह सकते हैं कि हमें तृष्णा, अहङ्कार, राग और द्वेष से मुक्ति चाहिए। इसलिए हमारे देश के ऋषियों, मुनियों और आचार्यों ने सहस्रों वर्षों से विद्या के सही संस्कारों का सारे देश में प्रचार-प्रसार किया। ये संस्कार इस देश की सम्पदा तथा अनमोल धरोहर हैं। प्राचीनकाल में विद्या के दो भेद कहे गये— विद्या और अविद्या। अविद्या का अर्थ अज्ञान नहीं है, अविद्या का अर्थ है भौतिक ज्ञान और विद्या का अर्थ है आध्यात्मिक ज्ञान। जिस प्रकार से साइकिल दो पहियों के बिना नहीं चल सकता है, वैसे ही विद्या और अविद्या दोनों का संयोग नहीं हो तो जीवन की गाड़ी भी नहीं चल सकती है अर्थात् भौतिक ज्ञान के साथ आध्यात्मिक ज्ञान भी आवश्यक है। भगवान् महावीर के जीवन सन्देश पर प्रकाश डालते हुए आचार्य विनोबा भावे (जो सर्वोदय के प्रणेता तथा महान् शिक्षाशास्त्री थे) ने कहा कि जीवन में शान्ति प्राप्त करने का एक महान् सूत्र महावीर ने दिया था। वह सूत्र है— “अहिंसा+विज्ञान=मानव जाति का उत्थान तथा अहिंसा-विज्ञान=मानव जाति का विध्वंस।” कहने का अर्थ है कि हमारे यहाँ पर भौतिक ज्ञान की अवहेलना, उपेक्षा नहीं की गयी; किन्तु उसके साथ आध्यात्मिक ज्ञान को भी अपनाने पर जोर दिया गया।

जैन आचार्यों ने शिक्षा के स्वरूप की व्याख्या करते हुए अध्यात्म विद्या पर बहुत जोर दिया और उसे महाविद्या की संज्ञा प्रदान की। ऋषिभासितसूत्र में आया है—

इमा विज्जा महाविज्जा, सव्वविज्जाण उत्तमा।

जं विज्जं साहइत्ताणं, सव्वदुक्खाण मुच्चती।।

जेण बन्धं च मोक्खं च, जीवाणं गतिरागतिं।

आयाभावं च जाणाति, सा विज्जा दुक्खमोयणी।।”

अर्थात् वही विद्या महाविद्या है और सभी विद्याओं में उत्तम है, जिसकी साधना करने से समस्त दुःखों से मुक्ति प्राप्त होती है। जिस विद्या से बंध और मोक्ष का, जीवों की गति और आगति का ज्ञान होता है तथा जिससे आत्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार होता है, वही विद्या सम्पूर्ण दुःखों को दूर करने वाली है।

प्राचीन ज्ञान का नवीन प्रस्तुतिकरण

आधुनिक युग में स्वामी विवेकानन्द^३ ने प्राचीन शिक्षा-पद्धति का नवीन प्रस्तुतिकरण किया। उन्होंने कहा कि शिक्षा मात्र उन सूचनाओं का संग्रह नहीं है जो टूंस-टूंस कर हमारे मस्तिष्क में भर दिये जायें और जो वहाँ निरन्तर जमे हुए रहते हैं, हमें जीवन का निर्माण, मनुष्यता का निर्माण व चरित्र का निर्माण करने वाले विचारों की आवश्यकता है। उन्होंने आगे पुनः कहा कि हमें ऐसी शिक्षा चाहिए, जो चरित्र को ऊँचा उठाती है, जिससे मन की शक्तियाँ बढ़ती हैं और जिससे बुद्धि का विकास होता है ताकि व्यक्ति अपने पैरों पर स्वयं खड़ा हो सके।

जीवन का सर्वांगीण विकास

उपरोक्त विवेचन से यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि भारतीय शिक्षा ने जीवन के भौतिक अंगों की उपेक्षा कर दी, ऐसी बात नहीं है। हमारे यहाँ शास्त्रों में जीवन का समग्र अंग लिया गया है अर्थात् मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि व आत्मा का पूर्ण विकास करना शिक्षा का उद्देश्य है। चतुर्विध पुरुषार्थ मनुष्य जीवन के सम्पूर्ण विकास की उद्भावना है। इसको स्पष्ट करने के लिए हम एक नदी का उदाहरण लें। अगर नदी के दोनों किनारे, दोनों तटबन्ध मजबूत होते हैं तो उस नदी का पानी पीने के, सिंचाई के, उद्योग-धन्धों आदि के काम आता है, उससे जीवों का कल्याण होता है। लेकिन जब उसके किनारे कमजोर पड़ जाते हैं तो नदी बाढ़ का रूप धारण कर लेती है और तब वही पानी अनेक गाँवों को जलमग्न कर देता है, अनेक मनुष्य और पशु उसमें बह जाते हैं, भयङ्कर त्राहि-त्राहि मच जाती है। इसी प्रकार मनुष्य का जीवन धर्म और मोक्ष के दो किनारों की तरह है, इन दो तटों की मर्यादा में अर्थ और काम का सेवन किया जाये तो मनुष्य का जीवन स्वयं के लिए एवं अन्यो के लिए भी उपयोगी और कल्याणकारी सिद्ध होता है। हमारे यहाँ पर जगत् और जीवन की उपेक्षा नहीं की गयी, लेकिन संयममय, मर्यादानुकूल जीवन के व्यवहार पर जोर दिया गया। हमारे यहाँ पारिवारिक जीवन में इसी धर्म भावना को विकसित करने को कहा गया। शास्त्रों में पत्नी को 'धर्मपत्नी' कहा गया जो धर्म भावना को बढ़ाने वाली होती है। वह वासना की मूर्ति नहीं है। आगम में पत्नी के बारे में बड़ा सुन्दर वर्णन आता है—

भारिया धम्मसहाइया, धम्मविइज्जिया।

धम्माणु रागरत्ता, समसुहदुक्खसहाइया।।

अर्थात् पत्नी धर्म में सहायता करने वाली, साथ देने वाली, अनुरागयुक्त तथा सुख-दुःख को समान रूप में बंटाने वाली होती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि हम दुनियाँ की सभी सूचनाएँ प्राप्त करें, विज्ञान व भौतिक जगत् का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करें, सारी उपलब्धियाँ प्राप्त करें, लेकिन इन सबके साथ धर्म के जीवन-मूल्यों की उपेक्षा नहीं करें। उस स्थिति में विज्ञान भी विनाशक शक्ति न होकर मानव जाति के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगा।

तीन प्रकार के आचार्य

राजप्रश्नीयसूत्र में तीन प्रकार के आचार्यों का उल्लेख मिलता है— कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य। कलाचार्य जीवनोपयोगी ललितकलाओं, विज्ञान व सामाजिक ज्ञान जैसे विषयों की शिक्षा देता था। भाषा और लिपि, गणित, भूगोल, खगोल, ज्योतिष, आयुर्वेद, सङ्गीत और नृत्य— इन सबकी शिक्षाएँ कलाचार्य प्रदान करता था। जैनागमों में पुरुष की ६४ और स्त्री की ७२ कलाओं का विवरण मिलता है। दूसरी प्रकार की शिक्षा शिल्पाचार्य देते थे जो आजीविका या धन के अर्जन से सम्बन्धित थी। शिल्प, उद्योग व व्यापार से सम्बन्धित सारे कार्यों की शिक्षा देना शिल्पाचार्य का कार्य था। इन दोनों के अतिरिक्त तीसरा शिक्षक धर्माचार्य था जिसका कार्य धर्म की शिक्षा प्रदान करना व चरित्र का विकास करना था। धर्माचार्य शील और सदाचरण का ज्ञान प्रदान करते थे। इन सब प्रकार की शिक्षाओं को प्राप्त करने के कारण ही हमारा श्रावक समाज बहुत सम्पन्न था। सामान्य व्यक्ति उनको सेठ और साहूकार जैसे आदरसूचक सम्बोधन से पुकारता था। भगवान् महावीर ने कहा है— “जे कम्मे सूर ते धम्मे सूर” अर्थात् जो कर्म में शूर होता है वही धर्म में शूर होता है।

जीवन में शिक्षा का स्थान

शिक्षा का मनुष्य के जीवन में क्या स्थान होना चाहिए, इसके बारे में दशवैकालिकसूत्र में अत्यन्त सुन्दर विवेचन मिलता है। वहाँ कहा गया—

नाणमेगगचित्तो य, ठिओ ठावयई परं।

सुयाणि य अहिज्जित्ता, रओ सुयसमाहिण्णं।

अर्थात् अध्ययन के द्वारा व्यक्ति को ज्ञान और चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है। वह स्वयं धर्म में स्थिर होता है और दूसरों को भी स्थिर करता है। इस प्रकार अनेक प्रकार के श्रुत का अध्ययन कर वह श्रुतसमाधि में अभिरत हो जाता है। जो शिक्षा मनुष्य के जीवन में विवेक, प्रामाणिकता व अनुशासन का विकास न कर सके तो वह शिक्षा अधूरी है। मूलाचार में कहा गया कि “विणओ सासणे मूलं।” अर्थात् विनय जिनशासन का मूल है। जिस व्यक्ति में विनयशीलता नहीं है वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। दशवैकालिकसूत्र में भी विनय का बड़ा सुन्दर वर्णन है। वहाँ कहा गया कि अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है और विनीत को सम्पत्ति— ये दो बातें जिसने जान ली है, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता

है। विद्यार्थी का दूसरा गुण है— अनुशासन- निज पर शासन फिर अनुशासन। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया कि जो व्यक्ति गुरुजनों के आज्ञाकारी हैं, श्रुतधर्म के तत्त्वों को जानते हैं, वे महा कठिन संसार समुद्र को तैर कर कर्मों का क्षय कर उत्तम गति को प्राप्त करते हैं। विद्यार्थी का तीसरा गुण है— दया की भावना। दया, करुणा, अनुकम्पा, जीव मात्र के प्रति प्रेम, आत्मैक्यता की भावना— ये जैन-संस्कृति की मानवता को अनुपम देन हैं। सारे विश्व में कहीं भी जीव दया पर इतना जोर नहीं दिया गया। भगवान् महावीर अहिंसा और करुणा के अवतार थे। उन्होंने कहा—

“संसार के सभी प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है। सुख अनुकूल है, दुःख प्रतिकूल है। सब लम्बे जीवन की कामना करते हैं। अतः किसी जीव को त्रास नहीं पहुँचाना चाहिए। किसी के प्रति वैर-विरोध का भाव नहीं रखना चाहिए। सब जीवों के प्रति मैत्री भाव रखना चाहिए।”

शिक्षा प्राप्ति के अवरोधक तत्त्व

उत्तराध्ययनसूत्र में बताया गया कि पाँच ऐसे कारण हैं जिनके कारण व्यक्ति सच्ची शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता। ये पाँच कारण हैं— अभिमान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य। अभिमान विद्यार्थी का सबसे बड़ा शत्रु है। घमण्डी व्यक्ति ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। क्रोध की भावना भी विद्याध्ययन में बाधक है। प्रमादी व्यक्ति ज्ञानार्जन कर नहीं सकता। अतः भगवान् ने बार-बार अपने प्रधान शिष्य गौतम को सम्बोधित करते हुए कहा— “समयं गोयम मा पमायए।” हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद मत करो, अप्रमत्त रहो। प्रमाद पाँच प्रकार का है— मद, विषय (कामभोग), कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ), निद्रा और विकथा (अर्थहीन, रागद्वेषवर्द्धक वार्ता)। ये दुर्गुण आज हमारे समाज में बढ़ रहे हैं जो शिक्षा प्राप्ति में बाधक हैं। विद्यार्थी को सदैव जागरूक रहना चाहिए तथा अपना समय आलस्य, व्यसनों के सेवन, गप-शप आदि में नहीं बिताना चाहिए।

शिक्षाशील कौन?

उत्तराध्ययनसूत्र में एक स्थान पर प्रश्न आता है कि शिक्षाशील विद्यार्थी किसे कहें? जिस व्यक्ति में आठ प्रकार के निम्न लक्षण हैं वह शिक्षा के योग्य कहा गया है। वे लक्षण इस प्रकार हैं—

१. जो अधिक हँसी-मजाक नहीं करता है।
२. जो अपने मन की वासनाओं पर नियन्त्रण रखता है।
३. जो किसी की गुप्त बात को प्रकट नहीं करता।
४. जो आचार-विहीन नहीं है।

५. जो दीषों से कलंकित नहीं है।
६. जो अत्यधिक रस-लोलुप नहीं है।
७. जो बहुत क्रोध नहीं करता और
८. जो हमेशा सत्य में अनुरक्त रहता है।

इस प्रकार की शिक्षा मनुष्य को ऊँचा उठाने की प्रेरणा देती है।

चरित्र को ऊँचा उठाएं

आज सूचना तकनीकी (Information Technology) का द्रुतगामी विकास हुआ है। रेडियो, टी०वी०, कम्प्यूटर, इण्टरनेट आदि द्वारा विश्व का सम्पूर्ण ज्ञान सहजता से उपलब्ध हो रहा है, लेकिन अगर बालक के चरित्र-निर्माण पर ध्यान नहीं दिया गया तो ये वैज्ञानिक साधन उसे पतित कर सकते हैं। आज विश्व के सर्वाधिक समृद्ध राष्ट्र अमेरिका का एक विद्यार्थी १८ वर्ष की उम्र तक कम से कम १२००० हत्याएं, बलात्कार आदि के दृश्य टी०वी० आदि पर देख लेता है। उस विद्यार्थी के कोमल मस्तिष्क पर इसका कैसा भयङ्कर प्रभाव पड़ता है? आज यही तकनीक हमारे देश में भी सुलभ हो गयी है। अनेक प्रकार के चैनल व चलचित्र टी०वी० पर प्रदर्शित होते हैं जो २४ घण्टे चलते रहते हैं। उनमें से अनेक हिंसा व अश्लीलता को बढ़ावा देने वाले, हमारे पारिवारिक जीवन को विखण्डित करने वाले होते हैं। हमारी सरकार भी अधिक आमदनी के लालच में उन्हें बढ़ावा देती है। इसलिए समाज का यह दायित्व है कि जो व्यक्ति शिक्षणशालाएं चलाते हैं उनके द्वारा विद्यार्थियों को चरित्र-निर्माण के संस्कार दिये जायें। केवल नाम के जैन विद्यालय चलाने से काम नहीं होगा, उन विद्यालयों में जैन-संस्कारों का भी ज्ञान देना होगा यथा माता-पिता की भक्ति, गुरु-भक्ति, धर्म-भक्ति व राष्ट्र-भक्ति। इसी प्रकार से विद्यार्थियों को मानव मात्र से प्रेम, परोपकार की भावना, जीव रक्षा के संस्कार देने होंगे। उसे यह महसूस कराना कि कोई दुःखी व्यक्ति है तो उसको यथा-शक्य मदद देना, सामान्यजन के सुख-दुःख में सम्मिलित होना, किसी के भी प्रति द्वेष नहीं रखना आदि संस्कार जीवन को उत्कर्ष की ओर ले जाते हैं। आज विश्व का बौद्धिक-विकास तो बहुत हुआ पर आध्यात्मिक विकास नहीं हुआ। महाकवि दिनकर ने बड़ा सुन्दर कहा है—

बुद्धि तृष्णा की दासी हुई, मृत्यु का सेवक है विज्ञान।

चेतता अब भी नहीं मनुष्य, विश्व का क्या होगा भगवान्?

मनुष्य की बुद्धि तृष्णा की दासी हो गयी है। तृष्णा निरन्तर बढ़ती जा रही है। विज्ञान का भी उपयोग अधिकांशतः विध्वंसक अस्त्रों के सृजन में हो रहा है। ऐसी स्थिति में मनुष्य को सुख और शान्ति कैसे प्राप्त होगी?

१०६ : श्रमण/जनवरी-जून २००२ संयुक्तांक

भारतीय शिक्षा का आदर्श है— भौतिक ज्ञान के साथ-साथ आध्यात्मिक ज्ञान का समन्वय। जैन शिक्षा के तीन अभिन्न अंग हैं— श्रद्धा, भक्ति और कर्म। सम्यक् दर्शन से हम जीवन को श्रद्धामय बनाते हैं, सम्यक् ज्ञान से हम पदार्थों के सही स्वरूप को समझते हैं और सम्यक् चारित्र से हम सुकर्म की ओर प्रेरित होते हैं। इन तीनों का जब हमारे जीवन में विकास होता है तभी हमारे जीवन में पूर्णता आती है। यही जैन शिक्षा का सन्देश है, हम अप्रमत्त बनें, संयमी बनें, जागरूक बनें, चारित्र-सम्पन्न बनें। तभी हमारे राष्ट्र का तथा विश्व का कल्याण सम्भव है।

सन्दर्भ- सूची

१. अनन्त सदाशिव अल्टेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति.
२. इसिभासियाइं, १७/१-२.
३. स्वामी विवेकानन्द संचयन, भाग ३, पृ० ३०२.
४. वही, भाग ५, पृ० ३४२.
५. उपासकदशांगसूत्र, ७/२२/७.
६. दशवैकालिकसूत्र, ९/४/३.
७. वही, ९/२/२२.
८. वही, ९/२/२४.
९. आचाराङ्गसूत्र, १/२/३/४; उत्तराध्ययनसूत्र, २/२० एवं ६/२.
१०. उत्तराध्ययनसूत्र, ११/३.



गांधी चिन्तन में अहिंसा एवं उसकी प्रासंगिकता (जेहादी हिंसा के सन्दर्भ में)

राजेन्द्र सिंह गुर्जर*

गांधी-चिन्तन का केन्द्रीय तत्त्व सत्य व अहिंसा है। सत्य का अर्थ है - जिसकी सत्ता है, जो शाश्वत है। सत्य को एक निरपेक्ष सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया। उन्होंने सत्य की महत्ता को स्वीकारते हुए ईश्वर सत्य है, के स्थान पर सत्य ही ईश्वर है, कहना अधिक उपयुक्त समझा। गांधी जी के अनुसार निरपेक्ष सत्य सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान और शाश्वत है। अहिंसा का अर्थ स्पष्ट करते हुए बताया कि अहिंसा हिंसा न करना ही नहीं है बल्कि मनसा, वाचा व कर्मणा से किसी भी जीव को हानि या ठेस न पहुँचाना है। व्यक्ति सभी जीवों के प्रति सदैव दयालुतापूर्ण व्यवहार करे।

समग्र रूप में देखा जाये तो गांधी जी की विचारधारा, उनका चिन्तन सत्य तथा अहिंसा पर टिका हुआ था। उनकी विचारधारा सत्य और लोककल्याण की ओर ले जाने वाली थी। अत्याचार के विरुद्ध अहिंसा तथा सत्य को ही प्रभावशाली एवं अमोघ शस्त्र उन्होंने स्वीकार किया।

गांधी जी के अनुसार अहिंसा वह साधन है जिसके द्वारा सत्य की साधना की जा सकती है। गांधी जी ने स्पष्ट किया कि सत्य की प्राप्ति के लिए अहिंसा अनिवार्य साधन है। अतः अहिंसा स्वयं में साध्य न होते हुए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसके बिना सत्य की साधना ही असम्भव है। अहिंसा गांधीजी का आविष्कार नहीं है बल्कि अहिंसा का आदर्श भारतीय उपनिषदों, बुद्ध तथा महावीर स्वामी के दर्शन में शताब्दियों पहले प्रतिपादित किया गया था। अहिंसा के सम्बन्ध में गांधीजी का योगदान यह है कि उन्होंने नवीन सन्दर्भ में अहिंसा के सिद्धान्त को परिमार्जित किया और मानवीय आचार के एक जीवन्त नियम के रूप में उसकी पूर्ण व्यवस्था की।

स्थूल और परम्परागत अर्थ में अहिंसा एक नकारात्मक शब्द है जिसका अर्थ है, 'हिंसा न करना' अथवा 'हिंसा का अभाव'। किन्तु गांधीजी अहिंसा के नकारात्मक अर्थ को अपूर्ण मानते थे। उन्होंने अहिंसा के नकारात्मक और सकारात्मक दोनों पक्षों

*. शोधच्छात्र, गांधी अध्ययन केन्द्र, राजनीति विज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर.

पर बल दिया और स्पष्ट किया कि अहिंसा का मर्म किसी को क्षति न पहुँचाने की स्थूल व भौतिक क्रिया की अपेक्षा इस क्रिया के पीछे विद्यमान मन्तव्य में निहित है। इस प्रकार नकारात्मक या निषेधात्मक विचार के रूप में अहिंसा का अर्थ है, किसी भी प्राणी को विचार, शब्दों या कार्यों से हानि न पहुँचाना।^१ किन्तु यह नकारात्मक अर्थ तभी पूर्ण होता है जबकि इसके मूल में इस नियम की सकारात्मक प्रेरणा मात्र के प्रति निरपवाद प्रेम आवश्यक रूप से विद्यमान हो।

गांधीजी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के प्रति जागृत प्रेम या करुणा, अहिंसा का सटीक मापदण्ड है। उन्होंने उदाहरण दिया 'यदि मैं किसी ऐसे व्यक्ति पर जो मुझ पर आक्रमण करने आये, बदले में प्रहार न करूँ, तो मेरा यह कृत्य अहिंसक हो भी सकता है और नहीं भी। यदि मैं भय के कारण उस पर प्रहार न करूँ तो यह अहिंसा नहीं है; किन्तु यदि मैं पूर्णतया सचेतन होकर प्रहार करने वाले के प्रति करुणा और प्रेम के कारण उस पर हमला नहीं करता हूँ तो यह निश्चित रूप से अहिंसा है।'^२

गांधीजी के अनुसार अहिंसा का सार साक्षात् प्रेम में समाविष्ट है उन्होंने स्पष्ट किया कि अपने मित्रों और सम्बन्धियों से प्रेम करना तो सहज भाव है। सच्चा अहिंसक दृष्टिकोण वह है जो व्यक्ति को अपने विरोधियों और शत्रुओं से भी प्रेम करने के लिए प्रेरित करे। उन्होंने कहा— "अहिंसा उस व्यक्ति के प्रति प्रेम-संवेदना और सेवा के भाव में निहित है जिसे घृणा करने के लिए कारण उपस्थिति हो। ऐसे व्यक्ति के प्रति प्रेम करने में जो हमें प्रेम करता है अहिंसा निहित नहीं है, अपितु यह तो स्वाभाविक नियम है।"^३ गांधीजी के अनुसार सच्ची अहिंसा वह है जो निःस्वार्थ और निरपेक्ष हो।

गांधीजी की यह मान्यता है कि अहिंसा का विचार कोई जड़ सिद्धान्त नहीं है, अपितु एक गुणात्मक और नैतिक आस्था है। अतः विशिष्ट परिस्थितियों में अहिंसा का नियम किसी को न मारने के स्थूल विचार की अपेक्षा, दूसरों के प्रति निःस्वार्थ प्रेम और उन्हें पीड़ा व कष्ट से मुक्त करने की निर्मल प्रेरणा से निर्दिष्ट होता है। उन्होंने ऐसी परिस्थिति को स्वीकार किया जबकि किसी दूसरे प्राणी के शरीर को नष्ट कर देने अथवा उसके प्राण ले लेने को भी हिंसा न माना जाये। गांधीजी ने स्पष्ट किया यदि कोई प्राणी ऐसी पीड़ा से कराह रहा है जिसका उपचार असम्भव है, तो उसे उस असहनीय पीड़ा से मुक्त करने की दृष्टि से मार डालना हिंसा नहीं माना जायेगा। गांधीजी ने अपने आश्रम में एक बछड़े को विष दिलवाकर मरवा दिया, क्योंकि वह असहाय पीड़ा से तड़प रहा था और यह भली-भांति निश्चित हो चुका था कि उसकी पीड़ा को कम करना तथा उसके प्राणों को बचाना असम्भव था। जब कुछ लोगों ने गांधीजी के इस निर्णय के अहिंसक होने में सन्देह किया तो गांधीजी ने स्पष्ट किया कि यह कृत्य पूरी तरह अहिंसक था, क्योंकि उसके पीछे कोई स्वार्थ भावना नहीं थी, अपितु बछड़े को कष्ट से मुक्त करने का उद्देश्य निहित था। गांधीजी ने दृढ़तापूर्वक कहा "यदि मेरा पुत्र भी इस स्थिति में

होता तो मैं निश्चित रूप से यही करता।”^५ किसी पवित्र उद्देश्य से किसी को मारना या कष्ट पहुँचाना अहिंसक नहीं कहा जा सकता। किसी कृत्य को अहिंसक ठहराने के लिए दो शर्तें आवश्यक हैं—

१. ऐसे कृत्य के पीछे पवित्र उद्देश्य ही नहीं, सम्बन्धित प्राणी का हित भी निहित होना चाहिए।^६
२. यह भली-भाँति सुनिश्चित कर लिया जाना चाहिए कि उस प्राणी को भौतिक क्षति पहुँचाना उसके हित की पूर्ति के लिए एकमात्र सम्भव उपाय है तथा स्वयं उसके हित की पूर्ति उसे भौतिक रूप से क्षति पहुँचाने के अलावा अन्य किसी रीति से की ही नहीं जा सकती।^६

गांधीजी के लिए अहिंसा आस्था व निष्ठा का विषय है, कोई व्यावहारिक नीति नहीं। नीति व्यक्ति के स्वार्थपरक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए परिवर्तित की जा सकती है; किन्तु एक नैतिक आस्था के रूप में अहिंसा के प्रति समर्पित व्यक्ति की आस्था किसी कठिन से कठिन परिस्थिति में भी अडिग रहती है। गांधी के अनुसार अहिंसा मानव के गरिमामय अस्तित्व का शाश्वत नियम है; किन्तु उसकी असीम शक्ति तभी सक्रिय हो सकती है, जबकि उसे अपनाने वाले व्यक्ति का मन, मस्तिष्क और आचरण अहिंसा के प्रति आस्था से पूरी तरह ओत-प्रोत हो।^७

अहिंसा कायरता नहीं

गांधीजी की अहिंसा में कायरता के लिए कोई स्थान नहीं है। उन्होंने स्पष्ट किया कि अहिंसा एक ऐसा अस्त्र है जिसका प्रयोग केवल बहादुरों द्वारा किया जा सकता है। उनका दृढ़ विश्वास था कि भय और अहिंसा एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत प्रकृतियाँ हैं। उन्होंने स्पष्ट किया कि जब तक व्यक्ति पूरी तरह निर्भीक नहीं होगा, वह सर्वोच्च मानवीय सदगुणों के रूप में अहिंसा की प्रभावकारी शक्ति को आत्मसात् ही नहीं कर सकेगा।

गांधीजी ने कहा कि “अहिंसा सर्वोच्च सदगुण है, कायरता निकृष्टतम दुर्गुण। अहिंसा में कष्ट सहने की तत्परता और कायरता में कष्ट पहुँचाने की प्रवृत्ति होती है। अहिंसक कृत्य कभी नैतिक विवाद उत्पन्न नहीं कर सकता जबकि कायरता सदैव नैतिक पतन का कारण होगा।”^८

गांधीजी का दृढ़ मत था कि अहिंसा का अभ्यास कायरों द्वारा किया जाना सम्भव ही नहीं है। किसी अन्याय का हिंसक साधनों से प्रतिकार करने वाले व्यक्ति की तुलना में अहिंसा के अनुयायी की अनिवार्य रूप से अधिक साहस और शौर्य की आवश्यकता होगी।^९ उनका मत था कि “जो व्यक्ति युद्ध के लिए तलवार लिए हुए है, निश्चित रूप

से बहादुर है; किन्तु वह व्यक्ति जो अपनी कनिष्ठिका को उठाये बिना भी और बिना किसी भय के मृत्यु का सामना करने के लिए तैयार है, निश्चित रूप से अधिक बहादुर हैं। जब तक कोई व्यक्ति अपने हाथ में तलवार रखना चाहता है, तब तक यह स्पष्ट है कि उसने पूर्ण निर्भयता की स्थिति प्राप्त नहीं की है। दूसरी ओर ऐसे व्यक्ति को कोई भय प्रभावित कर ही नहीं सकता जिसने स्वयं को अहिंसा की तलवार से सुसज्जित कर लिया है।^{१०}

गांधीजी का मत है कि अहिंसा के साधक के सामने एक ही भय होता है और वह है ईश्वर का भय। अहिंसक व्यक्ति को नश्वर शरीर की तुलना में आत्मा की शाश्वतता में विश्वास होता है। “आत्मा की शाश्वतता का ज्ञान हो जाने मात्र से वह अपने नश्वर शरीर का मोह छोड़ देता है और वह इस सत्य को जान लेता है कि हिंसा द्वारा नश्वर और स्थूल चीजों की ही सुरक्षा की जा सकती है, जबकि अहिंसा द्वारा आत्मा और आत्मसम्मान की रक्षा की जा सकती है।^{११}”

गांधीजी ने स्वीकार किया कि समस्त व्यक्ति अहिंसा के पालन में समान रूप से सक्षम नहीं हो सकते, क्योंकि अहिंसा के लिए आवश्यक निर्भीकता और आत्मबल को सब व्यक्तियों में समान रूप से उत्पन्न नहीं किया जा सकता। उनके अनुसार किसी व्यक्ति के अहिंसक आचरण की प्रकृति उसके पास उपलब्ध आत्मबल और निर्भीकता की मात्रा के अनुपात में निश्चित होती है। अतः इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अहिंसा की तीन श्रेणियों को स्वीकार किया है— १. जागृत अहिंसा, २. औचित्यपूर्ण अहिंसा, ३. भीरुओं या कायरों की अहिंसा।

जागृत अहिंसा वह है जो व्यक्ति के अन्तरात्मा की पुकार पर स्वाभाविक रूप से जन्म लेती है। इसे व्यक्ति अपने आन्तरिक विचारों की उत्कृष्टता अथवा नैतिकता के कारण स्वीकार करता है। इस प्रकार की अहिंसा में असम्भव को भी सम्भव में बदल देने की अपार शक्ति निहित होती है। औचित्यपूर्ण अहिंसा वह है जो जीवन के किसी क्षेत्र में विशेष आवश्यकता पड़ने पर औचित्यानुसार एक नीति के रूप में अपनायी जाए। यद्यपि यह अहिंसा दुर्बल व्यक्तियों की है, पर यदि इसका पालन ईमानदारी और दृढता से किया जाय तो यह काफी शक्तिशाली और लाभदायक सिद्ध हो सकती है। कायरों की अहिंसा निष्क्रिय अहिंसा है। अतः कायरता और अहिंसा, पानी तथा आग की भाँति एक साथ नहीं रह सकते।^{१२}

गांधी की अहिंसा की प्रासंगिकता पर प्रश्न चिह्न; जेहादी हिंसा

वर्तमान में विश्व के समक्ष आतंकवाद की समस्या मुँह फाड़े खड़ी हुई है। आतंकवाद क्या है इसकी आजतक सर्वसम्मत परिभाषा नहीं दी गयी है। कोई इसको एक प्रवृत्ति मानता है तो कोई अपनी बात, अपने मत, अपने विचार को दूसरों से हिंसा

के द्वारा मनवाने को आतंकवाद कहता है। अतः आतंकवाद व्यक्ति की वह प्रवृत्ति है, जिसमें वह अपनी मांगों मनवाने के लिए चरम हिंसा का प्रयोग करके व्यक्ति विशेष, समाज या किसी सरकार पर दबाव डाले अर्थात् आतंकवाद का आशय, अपनी मांगें मनवाने के लिए बल प्रयोग से है। परन्तु समाज ने इसमें कुछ अपवाद भी माने हैं— (१) सुरक्षा हेतु की गयी हिंसा, (२) शान्ति के नाम पर की गयी हिंसा एवं (३) एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से युद्ध इत्यादि। आतंकवाद और युद्ध विरोधी लोग आतंकवाद को सामाजिक कलंक या पाप निरोपित कहते हैं।^{१३}

गांधीजी ने धर्म के संकीर्ण अर्थ को स्वीकार नहीं किया बल्कि उनकी दृष्टि में धर्म शाश्वत और सार्वभौम नैतिक नियमों का संग्रह है। उन्होंने कहा “मेरे मत में धर्म का अर्थ है नैतिकता। मैं ऐसे किसी धर्म को नहीं मानता जो नैतिकता का विरोध करता हो या नैतिकता के परे कोई उपदेश देता हो। धर्म तो वास्तव में नैतिकता को व्यवहार में घटित करने की पराकाष्ठा है।”^{१४} अतः नैतिकता धर्म का केन्द्र बिन्दु है। गांधीजी किसी धर्म विशेष को महत्त्व न देकर सभी धर्मों को समान महत्त्व देते थे। उन्होंने कहा कि “विभिन्न धर्म तो, एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने के विभिन्न मार्ग हैं। जब हमारा लक्ष्य एक ही है तो इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि हम उसकी प्राप्ति के लिए अलग-अलग रास्तों पर चल रहे हैं।”^{१५} अतः गांधीजी सभी धर्मों के प्रति सम्मान भाव रखते थे।

वर्तमान आतंकवादी युग में धर्म की व्याख्या उसके अनुयायी अपनी सुविधा के अनुसार कर रहे हैं। इस्लामी देशों में विभिन्न प्रकार के जेहादी नारे दिये जा रहे हैं। इनका मानना है कि इस्लाम खतरे में है इसलिए जेहाद करो अर्थात् इस्लाम को बचाने के लिए काफिरों को मारो और अल्लाह के पास स्वर्ग में स्थान सुरक्षित करो। इनका यह भी मानना है कि अन्य धर्मों के कारण हमारा इस्लाम संकट में है इसलिए इसको हिंसा करके बचाओ। गांधीजी राजनीति में धर्म की बात करते थे, जबकि वर्तमान में धर्म का राजनीतिकरण हो गया है। आज एक धर्म की दूसरे से टकराहट पैदा हो गयी है और उसमें हिंसा का प्रवेश हो चुका है। इसमें दोष धर्म का नहीं बल्कि मानव विचारों का है।

ऐसे में गांधी की अहिंसा की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है कि जब धर्म का ही इस्तेमाल हिंसात्मक तरीके से होने लग जाये तो अहिंसा का पाठ किसे पढ़ाया जाये। आतंकवाद के दो रूप मुख्यतः देखने को मिलते हैं— (१) जेहादी आतंकवाद एवं (२) आत्मघाती आतंकवाद। पहले में धर्म का इस्तेमाल जेहाद के नाम पर किया जा रहा है तो दूसरे आतंकवाद में आतंकवादी स्वयं अपने प्राणों की चिन्ता किये बिना आतंकी हिंसा फैला रहे हैं। जब व्यक्ति स्वयं मरने एवं मारने पर ही उतारू है तो ऐसी स्थिति में अहिंसा का पाठ किसे पढ़ाया जाये?

अमेरिका में आतंकवादियों ने अपने प्राणों की चिन्ता किये बिना हजारों लोगों को मौत के घाट उतार दिया इसकी प्रतिक्रियास्वरूप अमेरिका ने अफगानिस्तान में हवाई हमलों के द्वारा हजारों लोगों को मौत की नींद सुला दिया। क्या यह आतंकवाद नहीं है? भारत, चेचन्या, फिलीपीन्स एवं कोसोवों में जेहाद के नाम पर प्रतिदिन हिंसात्मक गतिविधियाँ जारी हैं। गांधीजी हृदय परिवर्तन की बात करते हैं; किन्तु जब व्यक्ति बिना किसी भय, बिना किसी चिन्ता के हिंसा करने पर उतारू है तो ऐसी स्थिति में उसका हृदय परिवर्तन करना कठिन है।

आज हमें आत्मचिन्तन करने की आवश्यकता है। इसके लिये नैतिक मूल्यों को केन्द्रीय तत्त्व मानते हुए जेहादी युवकों की मूल समस्याओं की पहचान करनी होगी। इसके लिए राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्वयंसेवी संगठनों को सामाजिक समस्याओं का न्यायोचित समाधान करके ही उनको अहिंसा का पाठ पढ़ाया जा सकता है। इसी से व्यक्ति को व्यक्ति से एवं राष्ट्र को राष्ट्र से जोड़ा जा सकता है और विश्व में शान्ति स्थापित की जा सकती है।

सन्दर्भ

१. हरिजन, ७ सितम्बर, १९३५.
२. नवजीवन, ३१ मार्च १९२९
३. प्रभा बेन का लिखा पत्र, ५ फरवरी, १९३२.
४. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, खण्ड ५०, पृ० २०७.
५. उपरोक्त, खण्ड ५०, पृ० २१२
६. उपरोक्त, खण्ड ५०, पृ० २१२.
७. हरिजन, १९ दिसम्बर, १९३६.
८. यंग इण्डिया, ३१ अक्टूबर १९२९
९. यंग इण्डिया, ३ जनवरी, १९२९.
१०. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, खण्ड ४४, पृ० १८७.
११. हरिजन, १ सितम्बर, १९४०.
१२. गोपीनाथ धवन, सर्वोदय दर्शन, पृ० ७४.
१३. गांधी मार्ग, मई-जून १९८९, पृ० ११
१४. नवजीवन, २१ जुलाई १९२९
१५. हरिजन, ३० अप्रैल १९३८.

खरतरगच्छ – आद्यपक्षीयशाखा का इतिहास

शिवप्रसाद

खरतरगच्छ से समय-समय पर उद्भूत विभिन्न शाखाओं में आद्यपक्षीयशाखा भी एक है। खरतरगच्छ की पिप्पलक शाखा के प्रवर्तक आचार्य जिनवर्धनसूरि के प्रशिष्य जिनसमुद्रसूरि के पट्टधर आचार्य जिनदेवसूरि से वि०सं० १५६६ या १५६९ में यह शाखा अस्तित्व में आयी।^१ इस शाखा का उक्त नामकरण क्यों हुआ? किस कारण से एवं किस स्थान से यह शाखा अस्तित्व में आयी? ये सभी प्रश्न प्रमाणों के अभाव में अभी अनुत्तरित ही हैं।

यद्यपि इस शाखा से सम्बद्ध साहित्यिक और अभिलेखीय दोनों प्रकार के साक्ष्य मिलते हैं तथापि खरतरगच्छ की अन्य शाखाओं की तुलना में उनकी संख्या स्वल्प ही है। साम्प्रत निबन्ध में उक्त सभी साक्ष्यों के आधार पर खरतरगच्छ की इस शाखा के इतिहास पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

आद्यपक्षीयशाखा के आद्यपुरुष जिनदेवसूरि द्वारा प्रतिष्ठापित न तो कोई प्रतिमा मिलती है और न ही इनके द्वारा रचित कोई साहित्यिक कृति ही मिलती है; किन्तु इनके शिष्य एवं पट्टधर जिनसिंहसूरि द्वारा प्रतिष्ठापित तीन जिन प्रतिमाएँ आज मिलती हैं जो वि०सं० १६१७-२७ की हैं। प्रथम लेख वि०सं० १६१७ का है जो शान्तिनाथ की धातु-प्रतिमा पर उत्कीर्ण है। श्रीबुद्धिसागरसूरिजी^२ ने इसकी वाचना दी है, जो इस प्रकार है :

सं० १६१७ वर्षे पौष वदि १ गुरौ ओसवाल जा.सा. सहसवीरभा० सिरियादेपु० सा० सकलचन्द लषाजसारतायुतेन च श्रेयसे श्रीशांतिनाथबिंबं का०प्र० श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनसिंहसूरिभिः॥

वर्तमान में यह प्रतिमा अजितनाथ देरासर, अहमदाबाद में संरक्षित है।

द्वितीय लेख वि०सं० १६२७ का है, जो पार्श्वनाथ की धातु की प्रतिमा पर उत्कीर्ण है। आचार्य बुद्धिसागरसूरि^३ ने इस लेख का भी मूल पाठ दिया है, जो इस प्रकार है :

सं० १६२७ वर्षे वैशाख सुदि ३ शुक्रे उकेशवंशे पिपलीयागोत्रे सा० गठिया भा० बबा लघुधातृ सा० चांपा पु०सा० वीरजी स्वपुण्यार्थ श्रीपार्श्वनाथबिंबं का०

श्रीबृहत्खरतरगच्छे श्रीजिनसिंहसूरिभिः

इसी तिथि और वारयुक्त एक प्रतिमा धर्मनाथ की भी प्राप्त हुई है। इस पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार यह प्रतिमा भी जिनसिंहसूरि द्वारा ही प्रतिष्ठापित हुई थी। वर्तमान में यह प्रतिमा पंचायती मन्दिर, लस्कर-ग्वालियर में संरक्षित है।*

यद्यपि उपरोक्त अभिलेखों में कहीं भी खरतरगच्छ की आद्यपक्षीयशाखा का उल्लेख नहीं है बल्कि वि०सं० १६२७ की पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख में तो प्रतिमाप्रतिष्ठापक जिनसिंहसूरि को खरतरगच्छ की बृहत्शाखा से सम्बद्ध बतलाया गया है, परन्तु इस काल में खरतरगच्छ की आद्यपक्षीयशाखा को छोड़कर किन्हीं अन्य शाखाओं में इस नाम के कोई आचार्य नहीं हुए हैं^५ अतः उक्त प्रतिमालेखों में उल्लिखित जिनसिंहसूरि को खरतरगच्छ की आद्यपक्षीयशाखा से सम्बद्ध मानने में कोई बाधा नहीं है।

जिनसिंहसूरि द्वारा प्रतिष्ठापित एक अन्य प्रतिमा भी प्राप्त हुई है, जो पंचायती मन्दिर जयपुर में संरक्षित है। इस लेख में प्रतिमा-प्रतिष्ठापक के रूप में जिनसिंहसूरि का उल्लेख करते हुए उनके गुरु जिनदेवसूरि और प्रगुरु जिनसमुद्रसूरि का भी नाम दिया गया है। चूँकि इस लेख का कुछ भाग घिस गया है, अतः यह प्रतिमा कब स्थापित की गयी, यह ज्ञात नहीं हो पाता। चूँकि इनके पट्टधर जिनचन्द्रसूरि द्वारा प्रतिष्ठापित सर्वप्रथम जिनप्रतिमा वि०सं० १६२९ की है,^६ अतः यह निश्चय ही वि०सं० १६३९ के पूर्व की होगी। महो० विनयसागर^७ ने इस लेख की वाचना दी है, जो निम्नानुसार है —

..... सार्वभौमराजेश्वर राजाधिराज महाराज श्रीराजसिंह विजयराज्ये
..... वर्षे वैशाख मासे सितपक्षे भाषहणसंतानीय ऊकेशर्वशे
भांडागारिकगोत्रे भंडारी नगराज पुत्र भं० अमरा तत्पुत्र माना रत्नचन्द
नारायण नरसिंह सोमचन्द संगार अचलदास कपूरदासादिपरिवार के
श्रीपार्श्वनाथबिंबं कारितं प्रतिष्ठितं आद्यपक्षीय श्रीबृहत्खरतरगच्छे भ० श्रीजिनसमुद्रसूरिपट्टे
श्रीजिनदेवसूरिपट्टे श्रीजिनसिंहसूरिभिः श्रीमज्ज

वि०सं० १६३९ से १६७२ तक के कुछ प्रतिमालेखों में प्रतिमाप्रतिष्ठापक के रूप में इनके शिष्य जिनचन्द्रसूरि का नाम मिलता है। इनका विवरण इस प्रकार है :

लेखांक	प्रतिष्ठा वर्ष तिथि/वार	प्रतिमालेख/स्तम्भलेख	प्रतिष्ठास्थान	सन्दर्भ-ग्रन्थ
१.	१६३९ माघ सुदि ५ गुरुवार	अजितनाथ की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनालय, मेड़तासिटी	प्रतिष्ठालेखसंग्रह, लेखांक १०३७
२.	१६५४ वैशाखसुदि ५ सोमवार	चन्द्रप्रभ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	चिन्तामणिपार्श्वनाथ जिनालय, कुचेरा	वही, लेखांक १०६४
३.	१६५६ वैशाख सित (सुदि) ३ रविवार	अजितनाथ की चौबीसी प्रतिमा का लेख	चिन्तामणिपार्श्वनाथ जिनालय, मेड़ता सिटी	वही, लेखांक १०६९ एवं जैनलेखसंग्रह, भाग १, लेखांक ७८०
४.	१६६१ वैशाख वदि ८ सोमवार	शान्तिनाथ की चौबीसी प्रतिमा का लेख	”	प्रतिष्ठालेखसंग्रह, लेखांक १०७७
५.	१६६५ माघ वदि ९ गुरुवार	अजितनाथ की प्रतिमा का लेख	विजयगच्छीय मन्दिर, जयपुर	वही, लेखांक १०८५
६.	१६६८ ज्येष्ठ सुदि १५ गुरुवार	शास्वतजिनबिम्ब पर उत्कीर्ण लेख	चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनालय, सुंथी टोला, लखनऊ	जैनलेखसंग्रह, भाग २, लेखांक १५८५
७.	१६६९ आषाढ गुरुवार	पद्मप्रभ की प्रतिमा का लेख	चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनालय, मेड़ता सिटी	प्रतिष्ठालेखसंग्रह, लेखांक १०९४

८. १६६१ माघ सुदि ५ गुरुवार शान्तिनाथ की प्रतिमा का लेख वही, लेखांक १०९५
९. १६६१ " " पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख वही, लेखांक १०९६ एवं जैनलेखसंग्रह, भाग १, लेखांक ७७३
१०. १६७२ फाल्गुन वदि ८ महावीर की प्रतिमा का लेख उपकेशगच्छीय शान्तिनाथ जिनालय, मेड़ता सिटी ११०६
११. १६७२ फाल्गुन सुदि २ शुक्रवार " चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनालय, मेड़ता सिटी ११०४

वि०सं० १६३९ एवं १६५६ के प्रतिमालेखों में प्रतिमाप्रतिष्ठापक जिनचन्द्रसूरि के गुरु जिनसिंहसूरि और प्रगुरु जिनदेवसूरि का भी नाम मिलता है। इसी प्रकार वि०सं० १६६९ के दोनों प्रतिमालेखों में जिनचन्द्रसूरि के पूर्ववर्ती तीन पट्टधर आचार्यों — जिनसमुद्रसूरि, जिनदेवसूरि और जिनसिंहसूरि का भी नाम मिल जाता है।

इस प्रकार अभिलेखीय साक्ष्यों द्वारा इस शाखा के चार पट्टधर आचार्यों के नाम ज्ञात हो जाते हैं, जो इस प्रकार हैं :

जिनसमुद्रसूरि

|

जिनदेवसूरि

|

जिनसिंहसूरि

|

जिनचन्द्रसूरि (वि०सं० १६३९-१६७२ के मध्य विभिन्न जिनप्रतिमाओं के प्रतिष्ठापक)

जिनचन्द्रसूरि के पट्टधर जिनहर्षसूरि हुए। इसी शाखा के कीर्तिवर्धन नामक एक रचनाकार द्वारा रचित **जिनहर्षसूरिफागु** नामक कृति प्राप्त होती है।^{१६} इससे ज्ञात होता है कि वि०सं० १६९३ में जिनहर्षसूरि अपने गुरु के पट्टधर बने और वि०सं० १७२५ में इनका देहान्त हुआ। इनके द्वारा वि०सं० १७१३ में प्रतिष्ठापित पार्श्वनाथ की एक सलेख प्रतिमा प्राप्त हुई है, जो आज बीकानेर में गोगादरवाजा स्थित गौड़ीपार्श्वनाथ जिनालय में संरक्षित है। श्री अगरचन्द नाहटा^{१७} ने इस लेख की वाचना दी है, जो इस प्रकार है—

सं० १७२३ वर्षे भ० ताराचंद पार्श्वनाथ बिंबं कारितं प्रतिष्ठितं श्रीजिनहर्षसूरिभिः
खरतरगच्छे आद्यपक्षीय।।

जिनहर्षसूरि के पट्टधर जिनलब्धिसूरि हुए जिनके द्वारा वि०सं० १७५० में रचित **नवकारमहात्म्यचौपाई** नामक कृति प्राप्त होती है।^{१८} जिनहर्ष के एक अन्य शिष्य सुमतिहंस हुए जिनके द्वारा वि०सं० १६८६-१७३० के मध्य रची गयी विभिन्न कृतियाँ प्राप्त होती हैं, जो इस प्रकार हैं^{१९}:

- | | |
|---------------------------|---------------------|
| १. मेघकुमारचौपाई | रचनाकाल वि०सं० १६८६ |
| २. जयसेनलीलावतीरास | ,, वि०सं० १६९१ |
| ३. चौबीसीगीत | ,, वि०सं० १६९७ |
| ४. चन्दनमलयगिरिचौपाई | ,, वि०सं० १७११ |
| ५. कालकाचार्यकथाबालावबोध | ,, वि०सं० १७१२ |
| ६. अरहन्नकचौपाई | ,, वि०सं० १७१२ |
| ७. रात्रिभोजनचौपाई | ,, वि०सं० १७३० |
| ८. चतुर्दशस्वप्न | ,, वि०सं० १८वीं शती |
| ९. कल्पसूत्रकल्पचन्द्रिका | ,, ,, |

सुमतिहंस के शिष्य मतिवर्धन हुए, जिनके द्वारा वि०सं० १७३८ में रचित गौतमपृच्छाटीका नामक कृति मिलती है।^{१२} मतिवर्धन के शिष्य आनन्दनिधान द्वारा भी रचित कई कृतियां मिलती हैं, जो इस प्रकार हैं :

- | | |
|---|---------------------|
| १. कुलध्वजकुमाररास ^{१३} | रचनाकाल वि०सं० १७३४ |
| २. कीर्तिधरसुकुशलचौढालिया ^{१४} | ,, वि०सं० १७३६ |
| ३. देवराजवच्छराजचौपाई ^{१५} | ,, वि०सं० १७४८ |
| ४. सास्वतभाषाटीका ^{१६} | ,, वि०सं० १८वीं शती |

अगरचन्द्रजी नाहटा के संग्रह में खरतरगच्छ-आद्यपक्षीयशाखा की एक पट्टावली संरक्षित है, जिसके आधार पर उन्होंने इस शाखा के मुनिजनों की गुर्वावली दी है^{१७} जो इस प्रकार है :

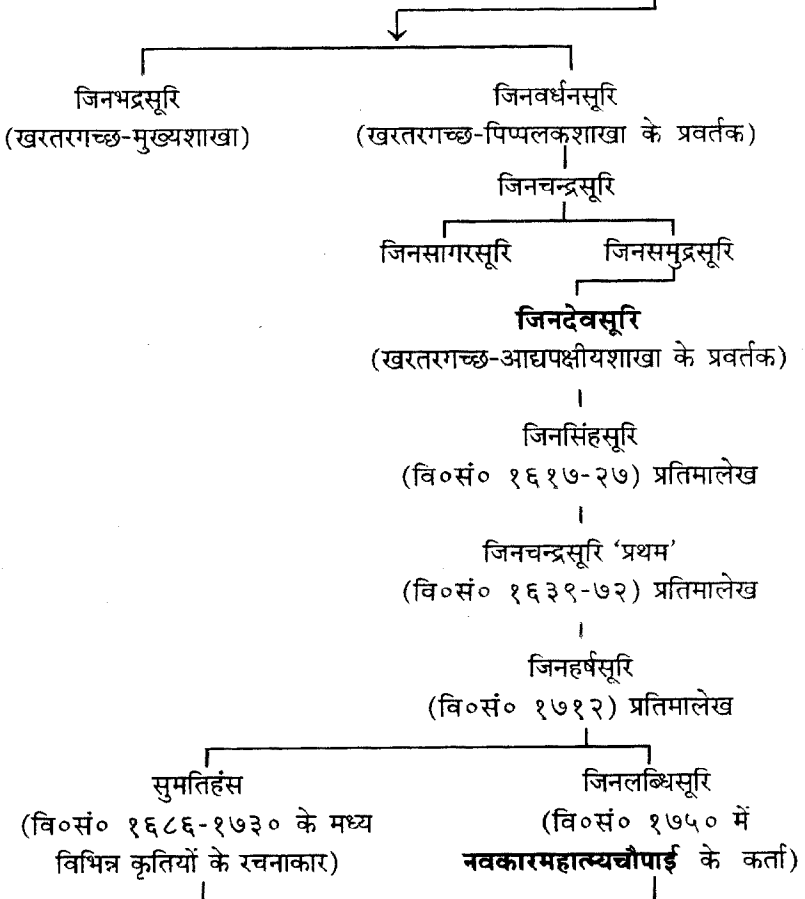
जिनवर्धनसूरि → जिनचन्द्रसूरि → जिनसमुद्रसूरि → जिनदेवसूरि
(आद्यपक्षीयशाखा के आदिपुरुष) → जिनसिंहसूरि → जिनचन्द्रसूरि → जिनहर्षसूरि
→ जिनलब्धिसूरि → जिनमाणिक्यसूरि → जिनचन्द्रसूरि → जिनोदयसूरि →
जिनसंभवसूरि → जिनधर्मसूरि → जिनचन्द्रसूरि → जिनकीर्तिसूरि → जिनबुद्धिवल्लभसूरि
→ जिनक्षमारत्नसूरि → जिनचन्द्रसूरि।

आद्यपक्षीयशाखा की वर्तमान में उपलब्ध एकमात्र पट्टावली में जिनमाणिक्यसूरि से अन्तिम पट्टधर जिनचन्द्रसूरि तक जितने भी नाम मिलते हैं उन सभी के बारे में अन्यत्र कोई सूचना नहीं मिलती है। चूँकि जिनदेवसूरि से जिनलब्धिसूरि तक के पट्टधर आचार्यों के नाम और क्रम जो इस पट्टावली में हैं, उनका साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों से भी समर्थन होता है। अतः इसमें जिनमाणिक्यसूरि से जिनचन्द्रसूरि तक जो भी नाम मिलते हैं, उन्हें प्रामाणिक मानने में कोई बाधा दिखायी नहीं देती। इस शाखां

के अन्तिम पट्टधर आचार्य जिनचन्द्रसूरि का वि०सं० २०००/ई०सं० १९४४ में देहान्त हो गया।^{१६} महो०विनयसागरजी की सूचना के अनुसार वर्तमान में इस शाखा से सम्बद्ध कुछ यति विद्यमान हैं।^{१७}

साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर इस शाखा के मुनिजनों का जो विद्यावंशवृक्ष तैयार होता है, वह इस प्रकार है :

वर्धमानसूरि → जिनेश्वरसूरि → जिनचन्द्रसूरि → अभयदेवसूरि (नवाङ्गीटीकाकार)
 → जिनवल्लभसूरि → जिनदत्तसूरि → मणिधारी जिनचन्द्रसूरि → जिनपतिसूरि →
 जिनेश्वरसूरि → जिनप्रबोधसूरि → जिनचन्द्रसूरि → जिनकुशलसूरि → जिनपद्मसूरि
 → जिनलब्धिसूरि → जिनचन्द्रसूरि → जिनोदय-सूरि → जिनराजसूरि



१२० : श्रमण/जनवरी-जून २००२ संयुक्तांक

मतिवर्धन
(वि०सं० १७३८ में **गौतमपृच्छाटीका** के कर्ता)
|
आनन्दनिधान
(वि०सं० १७४८ में **देवराजवच्छराजचौपाई**
एवं अन्य कृतियों के कर्ता)

जिनमणिक्यसूरि
|
जिनचन्द्रसूरि 'द्वितीय'
|
जिनोदयसूरि
|
जिनसंभवसूरि
|
जिनधर्मसूरि
|
जिनचन्द्रसूरि 'तृतीय'
|
जिनकीर्तिसूरि
|
जिनबुद्धिवल्लभसूरि
|
जिनक्षमारत्नसूरि
|
जिनचन्द्रसूरि 'चतुर्थ'
(वि०सं० २०००/ ई०स० १९४४
में स्वर्गस्थ

हर्षकुशल के शिष्य दयारत्न भी खरतरगच्छ की इसी शाखा से सम्बद्ध थे। उनके द्वारा रचित **हरिबलचौपाई**^{२०} (रचनाकाल वि०सं० १६९१) और **कापरहेडारास**^{२१} (वि०सं० १६९५) ये दो कृतियाँ मिलती हैं। इनके शिष्य केसव (केशव) अपरनाम कीर्तिवर्धन द्वारा रचित भी कुछ कृतियाँ मिलती हैं,^{२२} जो इस प्रकार हैं—

सुदर्शनचौपाई, वि०सं० १७०३, **जन्मप्रकाशिकाज्योतिष**, वि०सं० १७वीं-१८वीं शती, **दीपकबत्तीसी**, **भ्रमरबत्तीसी**, **प्रीतिसवैया**।

खरतरगच्छ-आद्यपक्षीयशाखा के मुनिजनों की ऊपर प्रदर्शित तालिका के मुनिजनों का हर्षकुशल, दयारत्न, कीर्तिवर्धन आदि का क्या सम्बन्ध रहा, यह ज्ञात नहीं होता?

सन्दर्भ :

१. अगरचन्दनाहटा, भंवरलाल नाहटा, सम्पा०, ऐतिहासिकजैनकाव्यसंग्रह, अभय जैन ग्रन्थमाला, पुष्प ८, कलकत्ता वि०सं० १९९४, पृ० ८१.
श्री विनयसागरजी के मतानुसार यह शाखा वि०सं० १५६९ में अस्तित्व में आयी।
२. जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह, भाग १, श्रीमद्बुद्धिसागरसूरि ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ४२, अध्यात्म ज्ञानप्रसारमण्डल, पादरा, वि०सं० १९७३, लेखांक १३५२.
३. वही, भाग १, लेखांक ११०६.
४. पूरनचन्दनाहर, सम्पा० जैनलेखसंग्रह, भाग २, कलकत्ता १९२७ ई०, लेखांक १३८८.
५. पं० बेचरदास दोशी, मणिधारीजिनचन्द्रसूरिकाव्याञ्जलि, पार्श्वनाथ विद्याश्रम लघु प्रकाशन ३, वाराणसी १९८० ई०, प्रस्तावना लेखक— महो० विनयसागर, पृ० १६-२०.
६. महो० विनयसागर, सम्पा०, प्रतिष्ठालेखसंग्रह, जिनमणिमाला, पुष्प ४, कोटा १९५३ ई०, लेखांक १०३७.
७. वही, लेखांक ११६१.
८. ऐतिहासिकजैनकाव्यसंग्रह, पृ० ३३३.
९. अगरचन्द नाहटा भंवरलाल नाहटा, सम्पा०- बीकानेरजैनलेखसंग्रह, अभय जैन ग्रन्थमाला, पुष्प १५, कलकत्ता, वीर सं० २४८४, लेखांक १९१९.
१०. अगरचन्दनाहटा भंवरलालनाहटा, सम्पा० मणिधारीजिनचन्द्रसूरिअष्टम शताब्दीस्मृतिग्रन्थ, दिल्ली, १९७१ ई०, भाग २, "साहित्यसूची", पृ०५०.
११. मोहनलाल दलीचन्द देसाई, जैनगूर्जरकविओ, भाग ३, नवीन संस्करण, बम्बई, १९८७ ई०, पृ० २७५;
शीतिकण्ठ मिश्र, मरुगूर्जरजैनसाहित्यकाबृहद्इतिहास, भाग २, पार्श्वनाथ शोधपीठ ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ६६, वाराणसी १९९४ ई०, पृ० ५५६.
१२. साहित्यसूची, पृ० १४.
१३. वही, पृ० ४३.
१४. वही, पृ० ४३
१५. वही, पृ० ४९.
१६. वही, पृ० ३४.
१७. ऐतिहासिकजैनकाव्यसंग्रह, पृ० ८१-८२.
१८. मणिधारीजिनचन्द्रसूरिकाव्याञ्जलि, प्रस्तावना, पृ० ११.
१९. वही
२०. साहित्यसूची, पृ० ६२.
२१. वही, पृ० ७२.
२२. जैनगूर्जरकविओ, भाग ३, नवीन संस्करण, पृ० ३३१-३२.

Jaina Campū Literature

*Dr. Ashok Kumar Singh**

Campū is a kind of elaborate composition; the same subject continued therein through alternations in prose and verse. According to Daṇḍī (7th cent. AD) *Gadya-padyamayī kācit campūrīyabhidhīyate* (*Kāvya-darśa* I, 31) and to Viśvanātha (fl. 1300-1380 AD) *Gadya-padyamayam Kāvyaṁ Campūrīyabhidhīyate* (*Sāhitya-darpaṇa* 6,336). Both emphasizing it as the mixed form of prose and poetry. Normally, such a form would have mediated the transmission from the metrical *Kāvya* to the prose *Kāvya*. But in fact, it arose after the prose *Kāvya*. As the latter approached more and more the ornate *Kāvya* and began to incorporate verses, a time came when the form gave up all pretense of prose work with occasional verses and became one in which prose and verse balanced in their proportions. Modern scholars like Kṛṣṇa Caitanya (20th cent.), the author of *Sanskrit Poetics*, opine that handled with discrimination, the form would have had possibilities. For instance, prose could be used for narrative stretches lacking heightening of emotion while verse for the more lyrical and poetic sequences. But this possibility generally escaped the notice of the Campū writers, often using both mediums rather haphazardly. Consequently, the Campū lacked the force and directness of prose and the heightened expressiveness of poetry. In fact it is an innovation, requiring an equal skill in prose and poetry composition. Conversely, to some this craze for novelty has resulted only in a kind of elaborate and highly artificial composition, the same subject continued through alternations in prose and verse, therein. However, Campū literature occupies an important place in Sanskrit literature.

In Sanskrit specimen are not rare, purposely mingling verses with prose for serving this or that specific end. The novelty of the Campū literature does lie in the fact that verses, here, have been brought forward,

*. Senior Lecturer, Parswanath Vidyapeeth.

not for limited and particular purpose. But simply because the authors wanted to have the same subject described in a random and haphazard way, alternately and indifferently. In spite of not being held in very high esteem by literary critics, this form of literature is very extensive and of variegated nature, it has universal appeal to public sentiments. The Campūs have been composed on very worldly subjects like local legends, local deities, common festivals, well-known personalities, and the like. The oldest known extant Campū is *Nalacampū* or *Damayanṭicampū* (AD 915) of Trivikrama Bhaṭṭa. In Jaina tradition, *Yaśastilakacampū* (AD 959) of Digambara Somaprabhasūri is a good specimen of this genre. *Jīvandharacampū* of Hariścandra (10th cent. AD) is another Jaina Campū of repute, depicting the life of the Jaina saint Jīvandhara in 11 *Lambhakas*. It is based on the *Uttara- Purāṇa* (AD 850) of Guṇabhadra. Probably, he is identical with Digambara Jain Hariścandra, the author of *Dharmaśarmābhyudaya*. He is good imitator of great poets Māgha and Vākpati.

Scholars differ about the origin of the word Campū, some tracing its origin in Sanskrit while some Kannaḍa etymologists aver that it is derived from the Kannaḍa word 'Chen' meaning beautiful (*Centum*). The interesting fact that authors of the earliest *Campūkāvya*s in Sanskrit-*Nalacampū* and *Yaśastilakacampū*- hailed from Karnataka, have encouraged some Kannaḍa scholars to conclude that the Campū Kāvya was first born in Kannada and subsequently adopted by Sanskrit poets. Guṇavarma I, the Kannada poet flourished at the court of king Ereyappā (864-913 AD) on whom Gaṅga king has conferred the title of *Mahendrāntaka*, wrote the *Campū Kāvyaṃ Harivaṅśa* and Śūdraka, is probably the first Kannada poet to compose the *Campū Kāvya*. Both these works are not available today but extracts from these both in verse and prose, have been included in latter works. The mention of a number of works of earlier authors as composed in both *Gadya* and *Padya*, in the earliest Kannada work available today i.e. *Kavirāja Mārga* on poetics (AD 850) is a proof that the Campū was first written in Kannada and was subsequently adopted by Sanskrit poets.

The Campū is supposed to contain *Aṣṭādaśa Varṇanas* (18 descriptions). Invariably, these are descriptions of oceans, mountains, cities, marriage of the prince, the birth of a son to him, sunrise, seasons, forests, aquatic sports, drink, desperations, union, consultation, gamble,

travel war and victory. It starts with the invocations to the *Iṣṭadeva* of the poet, followed by his homage to the earlier poets, the characteristics of his *Kāvya*, his genealogy, the main story and finally the beneficence, the reading of his *Kāvya* would bestow on its readers.

Campū treats of all the topics dealt within *Gadyakāvya* and *Mahākāvya*, implying that the hero of a Campū must possess noble qualities. A great degree of diversity is visible in the magnitude of the Campū literature. *Yaśastilakacampū* is one of the most voluminous of the Campū works; comprising 10,000 *Granthāgras* while the *Campūs Rūkmāṅgadarita*; *Tripuradahana* etc. are the smallest ones, hardly exceeding 30 *Granthāgras*. Most of the Campūs, however, lie between these two extremes and consist of 700 to 1500 *Granthāgras*.

Providing relief to the reader by means of the variety of expression appears to be the main purpose behind the composition of Campūs. In fact, alteration of prose and verse must have been intended to provide a sort of breathing time to the readers and this new fashion must have been welcomed by them. The Campū authors have clearly stated this purpose. Another purpose motivating the Campū authors was their desire to prove that they could write both prose and verses with equal skills. Probably due to modesty, most of the Campū authors have observed silence on this point, except Aṇṇavārya (date unknown), the author of the *Tattvaguṇādarśa Campū*, unequivocally expressing it.

In general, *Rāmāyaṇa*, *Mahābhārat* and *Puraṇas* are as usual main source of the Campū writers. However, Jainas have taken their theme from canons and other sacred books. Bulk of Campū is verse; prose is comparatively less and the prose and verse are discriminately used. The Campū ought to be necessarily divided into sections, called *Stabaka*, *Lambhaka*, *Paṭṭala* and *Prastāva*. The hero of a Campū may be a divine being, a recluse or any person belonging to any of the four castes. The main sentiment depicted is *Śṛṅgāra* or *Śānta*, the other sentiments find place casually. Contrary to the sentiment, in Campūs of Vedic tradition, being love and heroism, in Jaina Campūs, the *Śānta* or *Śṛṅgāra* is the chief sentiment. The remaining sentiments may come in subordinate as occasions arise, but never as principal. The style of Campū is generally elaborate and artificial.

In addition to the *Yaśastilakacampū* of Somadevasūri (AD 959), *Jivandharacampū* of Hariścandra (10th cent. AD), *Purudeva Campū* of Arhaddāsa (12th cent. AD), *Campūmaṇḍana* etc. are other Jaina Campū works in Sanskrit. Their counterparts in Kannada made its debut much earlier. The opinion that Guṇavarma I, the Kannada poet, flourished at the court of King Ereyappā, wrote two Campū works *Harivaṅśa* and *Śūdraka*, is firmly rooted. Extracts from these, available in subsequent anthologies and in works of grammars and poetics as illustrations, are testimony of the existence of these two works, though not available today. The first available Jaina Campū in Kannada is by Pampā, the most outstanding and the father of Campū kāvya in this language. His *Ādipurāṇa* (AD 942) depicts the story of Ādinātha or Purudeva, the first of the 24th Tīrthaṅkaras. *Śāntināthapurāṇa* of Ponnā (936-969 AD) on the life of 16th Tīrthaṅkara and *Ajita Purāṇa* of Rannā (10th-11th cent.), the greatest after Pampā, depicting the life of 2nd Tīrthaṅkara Ajitanātha, *Mallinātha Purāṇa* by Nāgacandra or Abhinava Pampā (1100-1126 AD), depicting the life of 19th Tīrthaṅkara, *Dharmāmṛta* of Nayasena (1112 AD). *Neminātha Purāṇa* (c.1140 AD) of Karṇaparyāya, depicting the story of 22nd Tīrthaṅkara. *Dharmapaṛiḷkṣā* (c. 1160 AD) of Vṛttavilāsa, a Kanarese version of Sanskrit work *Dharmapaṛiḷkṣā* of Amitagati and *Neminātha Purāṇa* of Nemicandra (middle of the 12th cent.) flourished during the Vīra Ballāla of Hoysal dynasty, *Yaśodharacarita* (AD 1209) and *Anantanātha Purāṇa* (AD 1230) of Jannā, on the life of 14th Tīrthaṅkara Anantanātha and *Puṇyāśrava* (AD 1331) of Nagaraja, were Jaina Campū works ending with title *Purāṇa*. The following is the details of the Jaina Campū works:

Yaśastilakacampū (AD 959) by a Digambara Somadevasūri or Somaprabhasūri, grand pupil of Yaśodeva of Gauda Sangha in 8 *Ācchvāsas* (sections) in Sanskrit, is one of the two comparatively ancient Campū. It is based on the famous Jaina legend of Yaśodhara, the king of Avantī. There are a few more works depicting the story of Yaśodhara viz. *Yaśodharacarita* by Kanakasena Vadiraja and *Yaśodharacaritra* by Māṇikyāsuri. It depicts the pathetic story of the prince Yaśodhara in a realistic manner based on a domestic tragedy, around which is woven a story of moral and religious edification. The central theme of this story is the cunning devices of his queen, his death, repeated re-birth and final conversion into Jaina faith, leading to Salvation. The tale begins with

Māridatta, the ruler of the country Yaudheya with capital Rājpur, deciding to offer his family goddess Caṇḍamāri, a pair of all living beings, including human beings. He is ready to sacrifice even an ascetic pair, a boy and a girl, in fact the children of Māridatta's own sister Yaśomatī. The children were sent to the sight by a Jaina ascetic Sudatta, on purpose. The children enjoyed rare gift of knowledge of the past births. On inquired by the king Māridatta they narrate the story of King Yaśodhara, lord of Avantī, with his capital Ujjain, the cunning devices of his queen Amṛtamati, his conversion to Jaina religion and the death by the poisoning the food by the queen of king and his mother. They narrate the account of the fate of the mother, son and wife in later births. The wicked queen repeats her evil deeds in her later births. At last, however, the cycle is complete and the mother and son are reborn, with knowledge of the past as the twin children of Yaśomatī and the sister of Māridatta. At the instance of ascetic Sudatta, the king, along with the goddess and his people, adopt Jaina faith. The work composed in full Kāvya style, displays great erudition and linguistic attainments of its writer. Comm. (1) *Pañjikā* by Śrīdeva, (2) *Ṭikā* by Śrutasāgar. **Pub.** The text with commentary of Śrutasāgasūri, ed. K.N. Sharma & Pt. Vasudeva Sharma, Kāvyaṃālā Series No. 2, Nirṇaya Sagar Press, Bombay Ed.2nd 1916, Two parts, // *Yaśastilakacampūmahākāvyaṃ* (Two Vols.) ed. & trans. (Hindi) Sundarlal Sastri, Mahavīra Jaina Text S.No.2, Varanasi, P. 35,431 and 48, 528, [Text with commentary *Yaśastilakadīpika* with Hindi trans. and appendices.] Theses: *Yaśastilaka and Indian Culture* by K.K.Handiqui, Jaina Sanskr̥ti Sanrakṣaka Sangh, Sholapur 1949, P. 540, [Deals with various aspects of Jainism and Indian thought and Culture in 10th cent. AD. as depicted in this text.] // *Yaśastilakacampū Kā Sanskr̥tika Adhyayana* by Dr. Gokul Chand Jain, Parshwanath Vidyasrama S. No10, Varanasi 1967, P.408 [A research work in Hindi, containing 4 chapters, is divided into 24 *Paricchedas* (sections). Its chapters deal with the cultural data found in the text under heads: Social life, Arts, Architecture and contemporary Geography.]

Jivandhara Campū, by Hariścandra (10th cent. AD), depicting the story of Jivandhara in Sanskrit, is divided into 10 *Lambhakas* (sections). It is based on the story, occurred in the 2nd part of the *Uttarapurāṇa* of Guṇabhadra (9th cent. AD) There are more works depicting the story of

Jivandhara viz. *Gadyacintāmaṇi* (prose), *Kṣatracūḍāmaṇi* (poem) both by *Vādibhasiṅgh* (10th cent. AD) in Sanskrit and *Jīvakacintāmaṇi* of Tirukkadeva (14th cent. AD) in Tamil. All these works have identical theme. The story of the Jivandhara may be seen under *Gadyacintāmaṇi* of Vādibhasiṅgha. **Pub.** The text in *Kāvyaṃbudhi*, Bangalore 1893-96. // The text ed. by T.S.Kuppusvāmi Śastri, Tanjore 1905, P.152, // the text, Jñānapīṭha Murtidevī Jaina Sanskrit Granthamālā No. 18, Delhi 1958. **Mns.** Arrah I. p.11, Śravaṇabelagola 199, 223,

Purudeva Campū of Arhaddāsa (12th cent. AD), the pupil of Āśādhara Paṇḍita, describes, in 10 *Stabakas*, the life of Rṣabhadeva, the first Tīrthaṅkara, in Sanskrit. This Campū is entirely free from the usual tiresome description of seasons, sunset, moonrise, cities, gardens etc. The plot is very complicated because of multitudes of births described; it is very difficult to follow the story in the first three *Stabakas*. The first three *Stabakas* inform about previous births of the persons related to Rṣabhadeva. The legend of Rṣabhadeva is very popular in Jaina tradition. A number of works are available pertaining to this theme. **Pub.** The text, Manek Jaina Digambara Jaina Granthamālā No.27, Bombay 1928. // The text with Sanskrit and Hindi Comm. Jñānapīṭha Murtidevī Sanskrit Grantha S.No.41, Delhi 1972. **Mns.** Arrah I. p.20, Śravaṇabelagola 187, 230 (a).

Campū Maṇḍana, by Maṇḍana Kavi, depicts in 7 *Paṭalas* (sections) the story of Neminātha, 22nd Jaina Tīrthaṅkara. The first 3 sections depict the story of Samudravijaya, his capital, wife Śrīdevī, the spring, moonrise, sunrise, the summer, water- sports, etc. In 4th, the queen dreamt of a Brahmin, giving three jewels to her. The dream was interpreted as indicating the birth of a son and accordingly she gave birth to a son in due time. The son was named Nemi and brought up and educated like a prince. Kṛṣṇa, hearing of Nemi, invited him to visit Dvārakā and received him cordially. His marriage was fixed with princess Rājīmatī the daughter of King Ugrasena. The famous episode of Nemi and Rājīmatī is described in the work. **Pub.** The text, Hemaçandra Granthamālā No.9, Patan 1918. **Mns.** Central Library, Baroda, Acc. No.4354, Jaina Granthāvali. P. 329

Ādipurāṇa (AD 942), by the greatest Kannada poet Pampā, depicts the story of Ādinātha or Purudeva, the first of the 24th Tīrthaṅkaras.

Ādipurāṇa is hagiological in nature, narrating the life of the first Tīrthaṅkara, presenting his previous re-births as well. It also contains the life story of Bharateśvara. Jinasena's *Ādipurāṇa* was the main source of his work. Pampā followed this source closely in respect of the story and order of narration but with his own original stamp. Jinasena's work is in verse whereas that of Pampā is in Campū form. The former is over elaborate, the latter is comparatively short. Pampā has amply justified his claim that one should look for religion and poetic charm together in his *Ādipurāṇa*. Pampā was a unique poet, having a combination of Vedic and Jaina cultures in him. He was born in Veṅgīmaṇḍala in the South-east. He came of a well-known Vedic family but his father became a willing convert to Jainism. Pampā also became a devout follower of Jaina religion but he never lost his regard for Vedic culture. By dispassionate comprehension of the essence of the two cultures, he gained a ripe wisdom, which put him in tune with universal culture. Arikeśari of the Caulukya dynasty, the most famous among the feudatory princes, was his patron and favourite hero. Pampā was the commander of his army. **Mns.** Palm-leaf in Jaina Math, Moodabidri, S.No. 528

Śāntināthapurāṇa of Ponna (936-969 AD) depicts the life of 16th Tīrthaṅkara. This work is preoccupied with an elaborate and intricate account of the eleven previous births of Śāntinātha. Almost everywhere the poet has used his source material for high-flown description and sectarian education. There is not a single captivating situation or impressive characters, like *Ādipurāṇa*. Ponnā was the contemporary of Pampā, who like Pampā's father, was originally of Veṅgī and had come into the Kanarese country after his conversion to the Jaina Faith. He wrote both in Sanskrit and Kanarese, hence received the honored title of *Ubhaya Kavi Cakravartin* (Imperial poet in both languages). This title was given to him by his patron, the Rāṣṭrakūṭa king, Kṛṣṇarāja (also called Ākāśavarṣa and Anupama), ruling at Mānyakheṭa (939-968 AD). The poet's fame chiefly rests on his *Śāntipurāṇa*. It was written at the suggestion of two brothers, who became Generals under a succeeding king Tailapa, to commemorate the attainment of Nirvāṇa by their Guru, Jinacandradeva. He was also the author of the *Jinākṣaramālā*, an acrostic poem in praise of the Jinas. Other works attributed to him have not been recovered. Like Pampā and Rannā he seems to have followed the earlier tradition of writing one secular and

another religious work in *Rāmakathe* or *Bhuvanaiarāmābhyudaya* and *Śāntinātha*, respectively. *Rāmakathe* is not available.

Ajita Purāṇa (993 AD) of Ranna (10th-11th cent.), the greatest after Pampa, depicts the life of 2nd Tīrthaṅkara Ajitanath. It is characterized by the absence of the Bhavāvali (series of births tangle). Only one previous birth of Ajitasvāmī has come in for treatment. Ranna concentrates all his attention on the life of Ajitasvāmī from his entry into womb upto his salvation along with the detailed description of five *Kalkaska*, i.e. phases in his life according to Jaina tradition. As usual, there is not much of a story interest or human touch in the narration. Everything is extraordinary and marvelous. Ranna, the third member of the trio was born in Jaina Family of Bangle makers in North Karnataka. He travelled to Jaina centres of learning in South and mastered grammar and the classics of the day. He came back to the land of his birth and became the court poet of Satyāśraya, the Western Caulukyan emperor. He wrote under the patronage of two Western Caulukya kings, Tailapa (937-997 AD) and his successor (997-1008). He received various titles of honour from them. The poet's other work was *Gadāyuddha*. He wrote *Ajītapurāṇa*, at the instance of Attimabbe, who was one of the most charitable women of the day and won the title of Dānacintāmaṇi. **Mns.** Palm-leaf in Jaina Math, Moodabidri, S.No. 528.

Mallinātha Purāṇa or *Pamparāmāyaṇa* by Nāgacandra or Abhinava Pampa or the second Pampa (1100-1126), depicts the life of 19th Tīrthaṅkara. Divided into 14 cantos, its story begins with King Vaiśravaṇa, enjoying worldly pleasures, being shocked to see a big banyan tree crash struck by lightening. He realized the vanity of life and went to forest for penance and became Ahmindra in heaven after death. In next birth born as Mallinātha, he renounced the world at a very young age and attained the stature of Tīrthaṅkara by observing penance.

In his work Nāgacandra covers the thin bower of story with creeper like descriptions and with a variegated portrayal of *Bhoga* (enjoyment) and *Tyāga* (renunciation). Nāgacandra lived towards the close of the 11th centuryAD. Little is known of his personal history. Probably, he was one of the group of poets at the court of the Ballāla Rāja, Biṭṭideva, the one who afterwards became a Vaiṣṇava and took the name

Viṣṇuvardhana (1104-1141 AD). The poet wrote two works viz. *Mallinātha Purāṇa* and *Ramacandracaritra Purāṇa*. **Mns.** Palm-leaf in Jaina Math, Moodabidri, S.No. 247

Dharmāmṛta by Nayasena (AD 1112) of Muluguṇḍa in the Dhāravāḍa District composed in *Campū* form it is a book on morals, depicting in easy and pleasant style through 14 chapters on as many forms of virtues, including courage, truthfulness, chastity, justice etc. It is a collection of 14 stories, emphasizing the significance of the Jaina vows. Considering his skill as a storyteller in the popular vein, his sense of satire and abundant use of popular idiom and adage, his work may be truly described as a Jaina Purāṇa meant for common man. **Mns.** Palm-leaf in Jaina Math, Moodabidri, S.No. 63,64

Neminātha Purāṇa, a *Campū* in Kannada of c. 1140 AD of Karṇaparyāya, depicting the story of 22nd Tīrthaṅkara, it also includes the stories of Kṛṣṇa, the Pāṇḍavas and the war of Mahābhārat. **Mns.** Palm-leaf in Jaina Math, Moodabidri, S.No. 63,64

Dharmaparīkṣā (c. 1160 AD) a *campū* of the poet Vṛttavilāsa, it is a Kanarese version of Sanskrit work *Dharmaparīkṣā* of Amitagati (1014 AD). It depicts how two Kṣatriya princes went to Varanasi and in successive meetings with the Brahmaṇas there, exposed the vices of the gods as related in the sacred books, e.g. It is shown therein that not one of the gods is fit to be trusted with the care of a girl and the incredibility is urged of such stories as that of Hanuman and his monkeys. **Mns.** Palm-leaf in Jaina Math, Moodbidri S.No.76, 210, 271, 309.

Neminātha Purāṇa of Nemicandra (middle of the 12th cent.) flourished during the reign of Vīra Ballāla of Hoysal dynasty and that of King Lakṣmaṇasena, the Śīlāhāra ruler of Kolhapur. It was at the suggestion of Vīra Ballāla's minister that he undertook to write the *Neminathaurāṇa*. As the poet died before its completion, it has become known as the *Ardha Nemi* unfinished life of Nemi. It is a hagiology in Jaina tradition. **Mns.** Palm-leaf in Jain Math, Moodbidri S.No.217 and 274.

Lilāvati, also by Nemicandra in Kannada in *Campū* form, is a love poem, inspired in its theme by the Sanskrit work *Vāsavadattā* of Subandhu (c.610 AD). According to *KannadaTāḍapatrīya Sūcī*, it is the work of Nemicandra Yati. The story is a very small peg, on which the poet hangs

all manner of description, known to conventional poetry. *Śṅgāra*, according to Nemicandra, is the only sentiment that deserves prominence and that is what characterizes *Lilāvati*. *Lilāvati* tells how a Kadamba prince saw in a dream a beautiful princess (the heroine) and she likewise dreamt of him. They were unacquainted, but after mutual search and various adventures were ultimately wedded. **Mns.** Palm-leaf in Jaina Math, Moodbidri S.No. 84 and 838.

Anantanātha Purāṇa (AD 1230), by Janna in Kannada, depicts the life of the 14th Tīrthaṅkara. The poem has grown in bulk as a result of lengthy description and elaboration of Jaina doctrine. The episode of Caṇḍa, forming the part of this work is something like a counterpart of the Amitagati episode in *Yaśodharacarita*. Janna has made an original contribution to Kannada poetry by his subtle handling of an aspect of unconventional love. Janna was a man of varied gifts and considerable munificence, being both court poet and minister at Ballāla Court, and also the builder and beautifier of temples. He was honoured by his patron-king with the title of *Kavi Cakravartin* (emperor among poets.) His other work is *Yaśodharacarita* in Kannada. **Mns.** Palm-leaf in Jaina Math, Moodbidri S.No. 828.

Puṇyāśrava by Nagaraja (c.1331 AD) written in Campū style contains 52 tales of Puranic heroes, illustrative of the duties of a householder, supposed to be the translation of a Sanskrit work. **Mns.** Palm-leaf in Jaina Math, Moodbidri S.No.712.

Bibliography: Kapadia, H.R. *Jaina Sanskrit Sāhityano Itihāsa*, Vol. 2, Part 1, Mukti -Kamala -Jaina Mohana -Mālā No.64, Baroda 1968. / / Dr. Chaudhary, Gulabchand, *Jaina Sāhitya Kā Bṛhada Itihāsa* Vol 6, Parshwanath Vidyapeeth S.No. Varanasi 2nd Ed.1996// Shastri, Pt. K.Bhujabala and Pillai T.P. Meenakṣī Sundarm, *Jaina Sāhitya Kā Bṛhada Itihāsa*, Vol .7 Parshwanath Vidyapeeth S.No. 24 Varanasi 1981// Chief Editor Amaresh Datt, *Encyclopaedia Of Indiana Literature*, Vol.1, Sahitya Akademi, New Delhi 2nd Reprint Ed 1997.



Misunderstanding vis-a-vis Understanding with reference to Jainism

*Dr. Rajjan Kumar**

Jaina, one of the alive representatives of Śramanic tradition, is an integral part of the composite culture of India, the other significant one is Vedic tradition. Irrespective of this there are numerous misunderstandings raised against Jainistic culture such as its antiquity and religion, metaphysics and epistemology, ethics and conduct, literature and language etc., each is a vast subject or rather consists of a number of sub-misunderstandings.

I

The most serious and basic charges laid against Jainism are that whether it is an independent religion with some requisite antiquity or an offshoot of some other culture. In this purview many consider that it is a branch of Vedic religion, some others take it to be an offshoot of Buddhism; whereas many others are of the opinion that Jainism arises as a reaction against the thoughts and practices of Vedic sacredotalism. The extent of its misunderstandings about its metaphysical and epistemological standpoint can be indicated by the view that has been advanced by many that its metaphysical and epistemological position represents a kind of extension of ideas explained earlier.

The misunderstanding about the nature of Jaina literatures and languages can be judged by the opinion expressed by renowned literary critics and linguists that Jaina literatures and languages are nothing but writings without any objectives. As for concern about ethics and conduct of Jainas, the misunderstanding has been prevailed and the opinions laid down are not rather different as expressed for other aspects of Jainism.

*. Reader : Dept. of Applied Philosophy, MJP Rohilkhand University, Bareilly, U.P.

Perhaps, all these misunderstandings have no requisite base or it may be considered that all these have been laid down due to being unfamiliar with the religion, philosophy, ethics, literature and culture etc. of Jainism. It is true that Jainism has its own culture with antiquity, religion with bases, metaphysics with idea, epistemology with logic, ethics with codes or rules, literature with objectives, language with dialects as well as enormous number of technical terms. All these have their own meanings. Here, it may be considered that all these and many more misunderstandings regarding Jainism make room due to wrong explanation of technical terms, ideas, concepts which Jainism have.

Jainism, again it is true, could not become worldwide religion and philosophy because of its strict rules of religious practices, but it is certain that the doctrines of Jainism are so scientific and rational, that, if accepted in true sense, can solve all these so called misunderstandings framed against Jainism. Further, it is true that the followers of *Jainadharma* or faith are much less in number than those of the other faiths but whosoever are the followers of *Jainadharma* they are honourable citizens of India, or high ranking businessmen and men of high thinking. And they are trying utmost to sort out all these misunderstandings.

II

Jainism is a religion propounded by a *Jina*. *Jina* is supreme status, conqueror of the worldly passions by his own sternous efforts. According to Jainism, *Jina* is not a supernatural being nor an incarnation of an all powerful God. He is a simple man with stern will power. Jainism, as a religion is nothing but a set of principles preached by such persons i.e. *Jinas*. As we know that *Jina* was previously a simple man and Jaina religion is known as a religion of *Jina*.¹ Hence, Jainism like Vedic religion, is not *Apauruṣeya* religion, a religion propounded by a non-human being or based on a sacred book of non-human origin. On the contrary, it is a religion of purely human origin and it has emanated from the mouth of a dignitary who has secured the omniscience and self-control by his own personal efforts.²

Though Jainism is not an Apauruṣeya religion, it claims as an eternal religion. The traditions and the legendary accounts prove the existence of Jainism as eternal. Jainism is revealed again and again in cyclic period i.e. *Utsarpīṇī* and *Avasarpīṇī*.³ This time cycle goes on endlessly and *Tirthaṅkaras* or *Jinas* or seers are born at regular intervals. They preach, practice and expound the eternal principles of Jainism. But this claim of eternity would appear to be very extravagant if we consider the fact that in our planet, the earliest man of early palaeolithic culture lived in India some 200,000 years ago, the period when man led the life of a savage.⁴ However, now, number of scholars agree that Jainism has pre-Aryan roots in the cultural history of India.

In the light of modern reasearches, there is a consensus that Jainism is one of the oldest living religion of the world. The Mohanjodaro culture, the Vedic literature and the pre-Mahāvīra period exhibit remarkable traces of the existence of Jainism in this country. As Dr. A.N. Upadhye remarked the origins of Jainism go back to prehistoric times. He further says to take a practical view that the Jaina *Tirthaṅkaras* like Ṛṣabhadeva, Neminātha, Pārśvanātha, Mahāvīra etc. have been some of the greatest mystics of the world. It would be interesting to note that the details about Ṛṣabhadeva given in the Bhāgavata Purāṇa practically and fundamentally agree with those recorded by Jaina tradition.⁵

Still there are some scholars who owing to mostly deep-rooted prejudices and other sentimental reasons, persist in believing and asserting that Jainism is an offshoot of Brāhmanism or that Jainas are merely Hindu dissenters like the Buddhists even though their religion is quite independent and much older than the latter. As it would be clear from what has already been said, there are absolutely no grounds for holding such an opinion. There are innumerable references in the Brāhmanic literature from the Vedas down to the Purāṇas and medieval literature, to the Jainas, their religion, its *Tirthaṅkaras* and even their doctrines, sometimes ridiculing and denouncing them, and sometimes praising and applauding them, while very often misunderstanding and misinterpreting them.

In certain places, devotion to *Jina* or to a particular *Tīrthaṅkara*, even to Jain ascetics, ranked much higher than all the religious observances enjoined by the *Śrutis* and *Smṛtis*. In fact, there is whatsoever no tangible evidence to show that Jainism branched off from the Vedic religion or from any of its later developments, at such and such time, nor there is any marked similarity between the fundamental doctrines and essential features of the two systems which might favour that possibility. Jainism with its the perfectly non-violent creed, animistic belief, subtle and peculiar karma theory, rejection of a creator and the creation theory, and the like, is not only quite and original system but is also absolutely independent of all other systems.

In its origin, Jainism is not only non-Aryan and pre-Aryan, in the sense that these terms are now generally understood, but it is also primitive and absolutely indigenous. Prof. Jacobi says, "In conclusion, let me assert my conviction that Jainism is an original system quite distinct and independent from all others; and that, therefore, it is of great importance for the study of philosophical thought and religious life in ancient India."⁶ Dr. Radhakrishnan affirms that there is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhamāna and Pārśvanātha. The *Yajurveda* mentions the names of three Tīrthaṅkaras-- Rṣabha, Ajitanātha and Ariṣṭanemi.⁷

III

A dispassionate study of the history of Indian literature reveals that the contributions of Jaina scholars to the development of literature is enormous. The fact that Lord Mahāvīra preached in the language of the masses seems to serve as a powerful inspiration to his followers to adopt such languages for disseminating knowledge and producing works of literary significance. It is on account of this fact that Jainas have been able to enrich the literature of different languages like Prākṛta, Apabhraṃśa, Saṃskṛta, Tamila, Kannada, Gujarātī, Rājasthānī, Hindi and others.⁸ Besides writing in different languages they have composed works on varied subjects.

So far as Jainas are concerned, their language of religion remained Prākṛta for a very long time. The entire early literature, both

canonical and pro-canonical remained in Prākṛta. But in due course, they did not continue Prākṛta for its literary purposes. They used local languages where they settled and travelled. When they found that Saṁskṛta became the language of learning and culture practically for the entire country, they did not lag behind to cultivate it. Thus there is hardly any branch of Saṁskṛta literature which is not enriched by Jaina authors and teachers. They have composed grammars, lexicons, and works on poetic and metrics, apart from composing elegant *Kāvya*s etc.

In the field of Nyāya literature, they had their colleagues in Buddhist literature. And they followed in their footsteps, and produced eminent Nyāya works either as commentaries or independent treatises to expound Jaina principles in the perspective of contemporary controversies. In due course they composed elaborate *Purāṇas*, *Kāvya*s in addition to logical treatises. The Prākṛta languages and literature were their speciality; and they did their best to cultivate the same even in its changing phases like the Apabhraṁśa. Objectives of Jainas were to convey religious principles and moral lessons to the society at large. So they always preferred contemporary living languages for this purpose. Apabhraṁśa language helped them very much for this purpose, and it is said that Jainas have carefully preserved Apabhraṁśa literature, because it was as much important and useful for their objective as Saṁskṛta and Prākṛta.⁹

Language is meant for communication and understanding and Jainas have meaning for this value. In the Tamilnadu the Jaina teachers and authors picked up the Tamil language and in Karnataka, the Kannada language. Saṁskṛta models were there before them. But that was not enough. They understood the local genius, mastered the surrounding conditions, absorbed the indigenous ideas and idioms, and composed *Muktakas* and *Kāvya*s in Tamil and Kannada. Rajasthan, Gujarat, Maharastra are the prominent centre. of Jainism. The contribution of Jaina writers in this direction enormous. They have composed voluminous literature in Rajasthani, Gujarati, Marathi, Hindi, of course the lucid language of India and Jainas contributed very much in this direction.

About the contribution of Jaina literature in the world of knowledge, the great German Scholar Bühler says¹⁰-- "In grammar, in astronomy as well as in all branches of belles letters the achievements of Jainas have been so great that even their opponents have taken notice of them and that some of their works are of importance for European science even today. In the South where they have worked among the Dravidian peoples, they have also promoted the development of these languages. The Kanarese, Tamil, Telugu literary languages rest on the foundations erected by the Jaina Monks." It is well known fact that in addition to the literature written by Jainas in the language of the masses, they also chose to write in the language of intellectuals and that is none other than Saṁskṛta. The result is that they were able to produce literature of amazing significance even in Saṁskṛta language and could make salient contributions to it.

IV

Jainism has contributed a number of original ontological concepts to enrich the philosophical thought of India. Similarly many of its epistemological and ethical doctrines are also original ones. At the same time it is observed that Jainism, no doubt, holds certain principles in common with Hinduism, but this does not disprove the independent origination and free development of the philosophy of Jainas. If the Jaina philosophy has some similarities with other Indian philosophical system, it has its own peculiarities as well. While defining Reality the Jaina philosophers generally make no distinction among *sat*, *tattva*, *dravya*, *artha*, *padārtha*, *tattāvārtha* etc. The other Indian philosophers do not do so. The Vaiśeṣika uses the term '*padārtha*' for *dravya*, *guṇa*, *karma*, *sāmānya*, *viśeṣa* and *samavāya*, but the term '*artha*' is reserved only for the first three.¹¹ The Naiyāyika calls the sixteen principles as *sat*.¹² The Sāṁkhya regards prakṛti and puruṣa as *tattva*.

Reality is defined by the Jaina as possessing origination, decay and permanence or as having qualities and modes.¹³ Origination and decay are nothing but the changing modes. Permanence is the same as the essential qualities. Thus, Reality is possessed of both change

and permanence. Here, the charges framed, how the two contradictories change and permanence live in one and the same thing? The Jaina philosophers say that permanence is not to be understood as absolute changelessness. Similarly, change is not to be taken as absolute difference. Permanence means indestructibility of the essential nature or quality of a substance.¹⁴ Change defines origination and destruction of different modes. Reality is transitory as well as permanent, different as well as identical. No object can be absolutely destroyed, nothing can be absolutely permanent. *Paryāyas* (modes) change, whereas the essential *guṇa* (character) remain the same.

Our experience tells us that no object is absolutely identical. We experience this also that the differences are not absolutely scattered. Jainism accepts this natural commonsense view and maintains that the identity or permanence exists in the midst of all the varying modes or differences. There is no reason to call in question the reality of the changes or of the identity, as both are perceived facts. Every entity is subject to change and maintains its quality and identity throughout its career. Thus, Reality is a synthesis of opposites--identity and difference, permanence and change. Irrespective of other Indian philosophical thought Jainism says, a real is neither a particularity nor a universality exclusively but a synthesis which is different from both separately and jointly though embracing them in its fold.¹⁵

As we know that the Vedantins start with the premise that Reality is one permanent universal conscious existence. The Vaibhāṣika and the Sautrāntika believe in atomic particulars and momentary ideas, each being absolutely different from the rest and having nothing underlying them to bind together. The Naiyāyika and the Vaiśeṣika hold particularity and universality to be combined in an individual, though they maintain that the two characters are different and distinct. A Real, according to them, is an aggregate of the universal, i.e. identity and the particular that is, difference, and not a real synthesis. The Jaina differs from all these Indian philosophers and holds that the universal and the particular are only distinguishable traits in an object which is at once identical with and different from

both.

There are six ultimate substances or eternal Reals in the Jaina metaphysics¹⁶ : 1. *Jīva* (Soul), 2. *Pudgala* (matter), 3. *Dharma* (medium of motion), 4. *Adharma* (medium of rest), 5. *Ākāśa* (space) and 6. *Kāla* (Time). Out of these six reals *Jīva* is the only sentient real while rest of the five are non-sentient. Further, it is also said that among the six, the five are *Astikāya* and one falls under *Anastikāya*. *Astikāya* means extendable while *Anastikāya* is not supposed to be extended. *Jīva*, *Pudgala*, *Dharma*, *Adharma* and *Ākāśa* are *astikāya* while time is included in *Anastikāya*. All these are unique one in the history of Indian philosophy.

V

The nature of Reality in Jaina Philosophy is both permanence and change. Truth has infinite aspects. It is of two types -- immediate and mediate. Only an Omniscient observer can obtain the immediate knowledge of an object in its totality. But an imperfect or an ordinary man knows one or a few aspects, and possess partial knowledge. The aim of Indian philosophers is to discard this partiality and attain omniscience, which is only possible for the complete destruction of the causes of *ajñāna* or wrong knowledge or nescience. In view of Jainism it is a process or spiritual development or forwarding to a path of liberation.

It is well established fact that the early discussion on the Jaina theory of knowledge is dominated with the same spirit. The path for spiritual progress, aiming at the final goal of liberation is the central tone of the Āgamas.¹⁷ Knowledge in this period is not valued on the merit of logical validity but as a means for the ethical progress. *Jñāna* (knowledge) is one of the constituents of the path of *mokṣa*,¹⁸ and the knowledge which does not help in achieving that goal is included as *ajñāna* or *mithyājñāna* (perverted knowledge).¹⁹ The difference between *jñāna* and *ajñāna* or *mithyājñāna* is not objective but subjective.²⁰ The cognition of a *samyagdṛṣṭi* whether it is logically correct or incorrect is always *samyājñāna*. Similarly, the cognition of *mithyādṛṣṭi* is always *ajñāna* or *mithyājñāna*.

It will be interesting to note that the Jaina theory of knowledge passed through different stages of development. It is a story of the progress of a thought. The Jaina theory of knowledge takes its birth from the stray ideas in the Āgamas. In that stage the development is pure and unalloyed. It is observed that in the stage of *Niryūktis* the idea of two fold division²¹ usurps in; which is an external influence, yet the spirit of Āgamas dominates. Then, we have *Anuyoga* where the fivefold division of the Āgamas goes into back and the fourfold division of the Nyāya²² comes into prominence. Umāsvāti reverts to the position of *Niryūktis* and stresses upon the twofold division,²³ which was finally accepted.

In the case of subdivision of knowledge Umāsvāti takes all the factors of subject, instrument, object and clarity into account.²⁴ Later on the subject is dropped altogether. The clarity is confined to the division of *pratyakṣa* and *parokṣa* only. The logicians take into account the two factors of instrument and object only.²⁵ Out of them the latter is not so powerful as the former. Thus, the development of the Jaina division of knowledge passes through various phases. Sometimes, free from the external influence, then slightly mixed with it then losing its originality into the latter, again establishing its originality and then constructing a parallel system of logical development.

The Jaina division of knowledge as has been stated above varies according to the amount of external influence. The basis of division also undergoes various changes accordingly. Lastly, the knowledge is affixed in five types -- 1. *Mati*, 2. *Śruta*, 3. *Avadhi*, 4. *Maṇḍaparyāna* and 5. *Kevalajñāna*. Out of the five types of knowledge the last three, are related with pure intuition. They are attained as super-natural powers and not through psychological process. The second of the remaining two i.e. *Śruta* is limited to scriptures. It also does not possess any importance as far as the psychology of knowledge is concerned. It is *Mati* that covers the whole range of cognition as far as modern psychology is concerned.

The entire process beginning with contiguity of senses and the object, upto the subconscious impressions which are capable of rising

again in the form of memory, are included into this type of knowledge. All varieties of profane knowledge perceptual or conceptual, termed and classified differently by different systems are included in it. Further, it is placed that *Mati* is the knowledge of objects, which are within the reach of senses. *Śruta* is the knowledge of objects expressed in scriptures. *Avadhi* is the cognition of material which are beyond the reach of senses. *Manahparyāya* is that of the mind and *Kevala* is that which apprehends all objects.

VI

Ethics is part and parcel of Jainism. Jaina ethics and ascetics and their concept of code of conduct, are unique in the world of religion. As it is established fact that ethics is the science of good conduct and the end of ethics is the greatest good of the greatest number.²⁶ Jainas do stresses the very concept of ethics but in quite different manner. People ignorant about this fact framed a charge against the system of Jaina ethics to the effect that it fosters the self-centred attitude, and does not take care of the society and therefore, social element in Jaina ethics is not strong.²⁷ It is true that the main aim of Jainism is to attain freedom from the transmigration of soul and the whole Jain ethics has been based on this foundation. All codes of conduct are so designed as to secure the prime aim as early as possible.

As there is no outside agency to help the individual in his efforts to secure salvation, it is natural that more importance was given to the individual. But this does not mean that Jaina ethics was confined to individuals alone. On the contrary, the ethical code was evolved for the whole society.²⁸ Jaina ethics took pains to provide for the welfare of both the society and the individual. It recognised the need for taking care of the society, and also aspired to bring the highest conceivable form of good within the individual's reach.²⁹ The social aspect of individual's life was never ignored. An individual was never conceived as separated from the society and social life.³⁰

The theory of *karma* is the keystone in the arch of Jaina ideology. As the soul is regarded as the doer of actions, really the soul is made responsible for all differences in people's conditions. The

soul has to enjoy the fruits of the *karmas* in the life or in subsequent lives. There is no salvation until the soul stops the influx of *karmas* and gets rid of existing *karmas* and this it will have to do by its own deliberate efforts without expecting any help from an outside agency. Dr. Krause rightly said that Jainism trains the individual to become a true hero on the battlefield of self-conquest.³¹

There is no use in asking the favour of God or of his representative because Jainism neither invests Gods with the power of determining the consequences of the *karmas* nor bestows on them the authority to forgive people from future consequences of past actions. Jainism denies both intermediation and forgiveness on the part of God; of what we have done we must bear the consequences. It is not fate, nor even predistination, but it is the ever continuous balancing of the different accounts that we keep with the forces of life.³² The *karmas* constitute the Karmic body; and it drags the soul into various forms of existence till the karmic body bids good-bye to the soul. This *karma* theory is an original and integral part of the Jaina system.

As it lays full stress on individual action and completely denies the existence of divine dispensation, it is clear that the ethics and asceticism of the Jainas are the logical consequences of this theory of *karma*.³³ All the *Tirthankaras*, whom the Jainas worship, did lead a social life and did attain salvation at the end. This shows that social life was never considered as an impediment to one's spiritual progress if necessary precautions are taken as the *Tirthankaras* did. These precautions are included in vows and established separately for householders and monks. For a householder it is twelve in number. These vows play a good part in the life of a single Jaina as well as that of the whole community.³⁴

The layman who adopts the twelve vows, or some of them, is left ample freedom to fulfil all his worldly duties, and to remain in fullest concordance with worldly propriety and etiquette even if he happens to occupy any responsible post which requires energetic and violent acting in the interest of the state.³⁵ Jaina ethical rules are meant for men of all positions-- for king, warriors, traders, artisans,

agriculturists, and indeed for men and women in every walk of life. Do your duty and do it as humanely as you can; this, in brief, is the primary principle of Jainism.³⁶ It is evident that social element in Jaina ethics is not neglected, though it includes the negative as well as positive rules of conduct.

Further, it is noticed that these prescribed rules of conduct are not limited for practising within the members of Jaina community. Jaina ethics embraces not only followers of Jainism but in a true sense all living beings. It is obvious that Jaina ethics tries to regulate the mutual relations of human beings and for that purpose twelve vows and ten meditations or reflections are laid-down.³⁷ Among them the five main vows are more important from the point of social relations. It is connected from a detailed analysis of the five main vows that Jaina ethics solves the individual problem of attaining spiritual merit and at the same time shows the way of solving all outstanding social and world problems.³⁸

Jain ethics lays down very elaborate rules of conduct-both for laymen and ascetics. Accordingly, the vows have been divided into two categories : *Aṇuvratas* or small vows and *Mahāvratas* or great vows. The householders have to practise the former and the ascetics the latter. Similar is the case with other observances. Moderation is the keynote of householders' life and severity of saintly discipline. The important hallmark of Jaina ethics is the fact that a graduated course is prescribed with a view to make it possible for every person to observe all rules of conduct by tolerably easy gradations.

References

1. *Jain Religion and Philosophy : An Introduction to Jaina Philosophy*, Devendra Muni Sastri, p., Jainadharma, Kailash Chandra Sastri, pp. 55-58.
2. *Jainadharma*, Kailash Chandra Sastri, p. 58
3. *Jaina-Religion and Philosophy*, Muni Devendra, p. 11.
4. *The Path of Arhat*, T.U. Mehta, p. 2
5. *Paramātmaprakāśa*, Introduction, p. 39.

6. *The Metaphysics and Ethics of the Jainas*, J.A.,X.I,40
7. *Sarvānukramaṇikā*, p. 164.
8. *Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa*, Vol. 1-7.
9. "Jain Contribution to Indian Heritage, Dr. A.N. Upadhye" - *Contribution of Jainism to Indian Culture*, Dr. R.C. Dwivedi (Edt.), p. 21.
10. "Some Aspects of Jain Contribution to Indian Culture- Dr. P.S. Lamba"- *Contribution of Jainism to Indian Culture*, R.C. Dwivedi, p. 3.
11. *Vaiśeṣika-sūtra*, 1.1.4; 8.2.3
12. *Nyāya-Bhāṣya*, 1.11
13. *Tattavārthasūtra*, 5.30; 5.38.
14. *Ibid*, 5.31.
15. *Aṣṭasahasrī*, pp. 147-148
16. *Dhammo Adhammo Agāsao Kālo Puggalo- Jaṇṭavo/Esa Logotti Pannatto Jiṇehim Varadaṇṣihini// Uttrādhyayanasūtra*, 28.
17. *Ibid*, 29/59.
18. *Ibid*, 28/1-3.
19. *Nandisūtra*, 25; *Tattavārtha*, 1/32.
20. *Bhagavatī*, 8.2.81.
21. *Bṛhatakālpa Niryūkti*, 4.3,24-25.
22. *Anuyogadvāra*, p. 211.
23. *Tattavārthasūtra*, 1/9-12.
24. *Tattavārthasūtra*, 1/9-13.
25. *Parikṣāmukha*, II.5-12; III.2,3,5,14.
26. *Bahujana hitāya bahujana sukhāya, Lokānukampāya atthāya hitāya sukhāya deva manussānaṃ/ Vinayapiṭaka.*
27. *Heart of Jainism*, Sinclair Stevenson, pp. 29,71; *The Great Cultural Tradition*, Turner, p. 5.

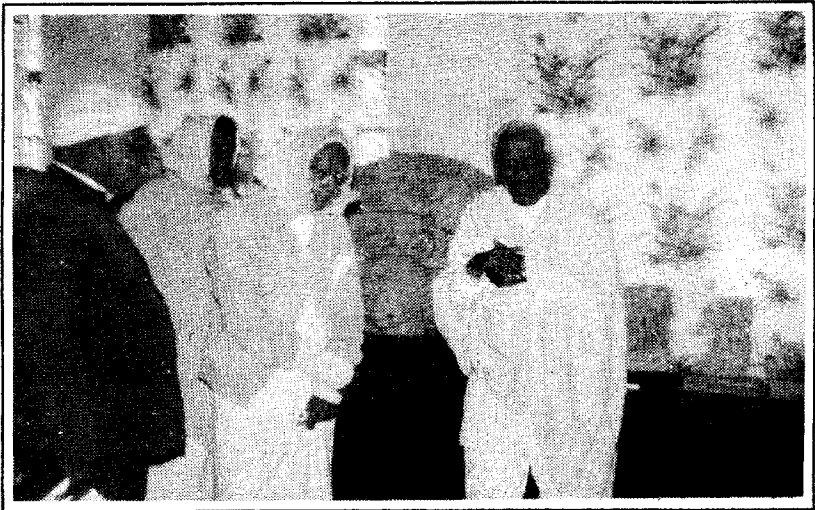
28. *Jaina Saṁskṛti Kā Hṛdaya*, Pt. Sukhlal Sanghavi, p. 15.
29. *Jain Culture*, C.R. Jain, p. 5;
30. *Ethical Doctrines in Jainism*, K.C. Sogani, pp. 267-68.
31. *Heritage of the Last Arhat*, C.Krause, p. 7.
32. *Jaina Religion and Community*, V.A. Sangve, p. 28.
33. *Outlines of Jainism*, J.L. Jaini, pp. 28-29.
34. *Jaina Religion and Community*, Sangve, p.49.
35. *Interpretation of Jaina Ethics*, C. Krause, pp. 21-22.
36. *History of India*, V.A. Smith, p. 53.
37. *Jaina Religion and Community*, Sangve, p. 49.
38. *World Problem and Jain Ethics*, Beni Prasad, pp. 2-15;
Jaina Ācāra, M.L. Mehta, pp. 83-129.



विद्यापीठ के प्रांगण में

मुनिश्री जम्बूविजयजी पार्श्वनाथ विद्यापीठ में

जैन आगमों के तलस्पर्शी एवं अन्तर्राष्ट्रीयख्याति प्राप्त विद्वान्, वयोवृद्ध सन्त श्री जम्बूविजयजी महाराज का ससंघ ३ जनवरी को विद्यापीठ में शुभागमन हुआ। आप यहाँ ३ दिन तक ठहरे। इस अवधि में आपने यहाँ पर किये जा रहे शोधकार्यों का निरीक्षण किया और अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। सद्भाग्य से विद्यापीठ के मन्त्री तथा पूर्व निदेशक प्रो० सागरमलजी भी इस अवसर पर विद्यापीठ में ही थे। अपने प्रवास के दूसरे दिन मुनिश्री से वाराणसी के प्रमुख विद्वानों ने विद्यापीठ में भेंट की। प्रो० सागरमलजी जैन ने उपस्थित विद्वानों के समक्ष मुनिश्री द्वारा किये जा रहे शोधकार्यों एवं आगम सम्पादन की गम्भीरता और विशदता की चर्चा की। इस अवसर पर मुनिश्री ने आगन्तुक विद्वानों की सभी जिज्ञासाओं का समुचित समाधान किया। आप प्राच्य विद्या धर्मविज्ञान सङ्घाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय भी गये और वहाँ न्याय, ज्योतिष एवं जैनदर्शन पर कार्य कर रहे विद्वानों से विचार-विमर्श किया। अपने लम्बे विहार क्रम में मुनिश्री ने मार्ग में पड़ने वाले तीर्थस्थानों की न केवल यात्रा की बल्कि उनकी सही



मुनिराज श्रीजम्बूविजय जी पार्श्वनाथ विद्यापीठ के संग्रहालय का निरीक्षण करते हुए, उनके बायीं ओर हैं संग्रहालय के नियामक श्री सत्येन्द्रमोहन जैन तथा दाहिने प्रो० सागरमल जैन

भौगोलिक स्थिति, प्राचीनता आदि के बारे में भी प्रचलित भ्रान्तियों को रेखांकित किया और विद्यापीठ में प्रो० सागरमलजी जैन तथा अन्य विद्वानों से इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा की और अपने निष्कर्षों से उन्हें परिचित कराया। विद्यापीठ के अपने प्रवास में पूज्य मुनिश्री ने यहाँ के समृद्ध पुस्तकालय तथा संग्रहालय का सूक्ष्मता से निरीक्षण किया और पुस्तकालय को अपने नवीन ग्रन्थ प्रदान किये।

आचार्य विरागसागरजी महाराज का आगमन

वर्ष २००१ का अपना गया चातुर्मास पूर्ण कर दिगम्बर जैन आचार्य परमपूज्य श्री विरागसागरजी महाराज ससंघ वाराणसी पधारे। दिनांक ७ जनवरी को विद्यापीठ में आपश्री का शुभागमन दोपहर २.३० बजे हुआ। आपश्री के साथ ४ मुनिराज, ३ आर्यिका माताजी, १ ऐलकजी, ४ क्षुल्लकजी, भट्टारक धर्मकीर्तिजी तथा बड़ी संख्या में वैरागिन ब्रह्मने थीं। विद्यापीठ के अधिकारियों के साथ यहाँ के पुस्तकालय तथा परिसर स्थित विभिन्न भवनों का आपने निरीक्षण किया तथा यहाँ हो रहे शोधकार्यों और प्रकाशनों को देखकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। अपने संक्षिप्त प्रवास में आपने यहाँ नवनिर्मित यशोविजय स्मृति मन्दिर में व्याख्यान भी दिया जिसमें संस्थान में विराजित सभी साध्वियाँ, संस्थान के अधिकारी एवं शोधच्छात्र उपस्थित थे।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में जन्म जयन्ती समारोह सम्पन्न

श्रमण संघीय मुनि, मानव मिलन के प्रेरक, प्रखर वक्ता पू० गुरुदेव श्रीमणिभद्रजी, म०सा० की ३५वीं जन्म जयन्ती के पावन अवसर पर कानपुर के गुरुभक्तों द्वारा पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी में ८ अप्रैल को प्रातः भव्य जन्मजयन्ती समारोह एवं **जैन धर्म एवं पर्यावरण संरक्षण** पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इस अवसर पर मुख्य अतिथि के रूप में बिहार सरकार के वन एवं पर्यावरण तथा सिंचाई मन्त्री श्री जगदानन्द सिंह और विशिष्ट अतिथि के रूप में प्रो० रेवतीरमण पाण्डेय, कुलपति-गोरखपुर विश्वविद्यालय उपस्थित थे। कार्यक्रम की अध्यक्षता कानपुर के नवनिर्वाचित विधायक श्री सलिल विश्‍नोई ने की। इसी अवसर पर कानपुर से पधारी चन्दनबाला महिलामण्डल की अध्यक्षा श्रीमती रंजना बहन एवं श्रीमती कविता जैन ने भक्ति गीतों के माध्यम से अपने हृदय के उद्गारों को गुरुचरणों में समर्पित किया। कु० रुचि जैन एवं कु० प्रियंका जैन ने क्रमशः चन्दनबाला व भगवान् महावीर का (उड़द बाकुला) 'रुक जा जोगी' दृश्य प्रस्तुत कर जनसमूह को भावविभोर कर दिया। मुख्य अतिथि के पद से बोलते हुए श्री जगदानन्द सिंहजी ने पर्यावरण की संरक्षा के सम्बन्ध में जनसामान्य में चेतना जागृत करने के लिए बुद्धिजीवियों का आह्वान किया और कहा कि हमारे पूर्वजों ने इस दिशा में न केवल बहुत कुछ लिखा है बल्कि उसे करके भी दिखाया है। हमारा कर्तव्य है कि हम उसे जानें और समझें। श्री सिंह ने पूज्य गुरुदेव

के चरणों में श्रद्धासुमन अर्पित करते हुए उनके दीर्घायु होने की कामना की। श्री सिंह के पश्चात् प्रो० रेवतीरमण पाण्डेय और श्री सलिल विश्नोई ने भी पूज्य गुरुदेव के चरणों में श्रद्धासुमन समर्पित किया। पार्श्वनाथ विद्यापीठ की ओर से डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, डॉ० अशोककुमार सिंह और डॉ० विजय कुमार ने अपने वक्तव्यों में गुरुदेव की प्रशंसा करते हुए उनके दीर्घायु होने की कामना की। सुप्रसिद्ध पर्यावरणविद् श्री शान्तिलाल जैन भी इस अवसर पर उपस्थित थे। अपने वक्तव्य में उन्होंने पर्यावरण और नदियों की सुरक्षा तथा स्वच्छता बनाये रखने का आह्वान किया। पूज्य गुरुदेव ने अपने उद्बोधन में अहिंसा और पर्यावरण के सम्बन्ध में कहा कि भगवान् महावीर ने पर्यावरण की रक्षा के लिए अहिंसा का उपदेश देकर पर्यावरण को दूषित होने से बचाया। प्रकृति और मनुष्य को गहराई से जानने और समझने का प्रयत्न ही पर्यावरण को सही ढंग से समझने का आधार है।

कार्यक्रम के अन्त में विद्यापीठ के सभी अध्यापकों एवं कर्मचारियों को श्री दीपक कोठारी, कानपुर की ओर से उपहार एवं नकद राशि प्रदान कर श्री सलिल विश्नोई ने सम्मानित किया। गुरुदेवश्री की परमभक्त सौ० आरती कोठारी (धर्मपत्नी श्री दीपक कोठारी) के सौजन्य से भोजन की सुन्दर व्यवस्था की गयी थी। समारोह का संचालन पार्श्वनाथ विद्यापीठ के वरिष्ठ प्रवक्ता डॉ० अशोककुमार सिंह एवं श्री सुनील जैन



'सर्वधर्मसमभाव' संगोष्ठी के अवसर पर लिया गया चित्र - मंच पर उपस्थित प्रो० रामाशंकर त्रिपाठी, प्रो० नवाड-सामतेड, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो० रामचन्द्र राव, प्रो० ए०के० नारायण, मौलाना वातिन नोमानी, श्री सलिल विश्नोई, श्री आर०के० जैन आदि। बगल में विराजित पू० मणिभद्रजी 'सरल' एवं श्री पदम मुनिजी म०सा०।

(कानपुर) ने किया। इस कार्यक्रम को सफल बनाने में विद्यापीठ की प्रवक्ता डॉ० सुधा जैन ने अथक् परिश्रम किया।

अहिंसा एवं धार्मिक सहिष्णुता पर सर्वधर्मसमभाव-संगोष्ठी

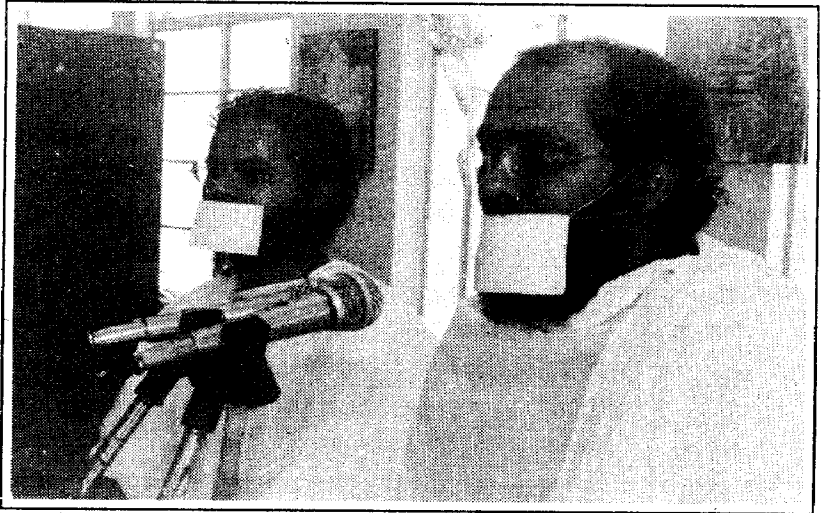
स्थानकवासी-परम्परा के महान् सन्त पूज्य श्री सोहनलालजी म०सा० की पुण्य स्मृति में स्व० लाला हरजसराय जैन, अमृतसर वाले (वर्तमान में फरीदाबाद, हरियाणा) द्वारा प्राकृत-भाषा और जैन-विद्या के उच्च अध्ययन और संशोधन हेतु सन् १९३७ में स्थापित पार्श्वनाथ विद्याश्रम (अब पार्श्वनाथ विद्यापीठ) द्वारा भगवान् महावीर की २६०१वीं जन्म जयन्ती के शुभ अवसर पर २४ अप्रैल २००२ को सर्वधर्मसमभाव नामक विषय पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया। यह संगोष्ठी मानव-मिलन के प्रेरक पूज्य श्री मणिभद्र मुनिजी म०सा० की प्रेरणा से आयोजित की गयी जिसमें वाराणसी के चारों जैन-सम्प्रदायों का पूर्ण सहयोग प्राप्त रहा। यह उल्लेखनीय है कि पूज्यश्री मणिभद्र मुनिजी आचार्य सोहनलालजी म०सा० की शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा के ही उज्ज्वल नक्षत्र हैं और वर्तमान में अपने शिष्य श्री पद्म मुनिजी के साथ विद्यापीठ में ही अध्ययनार्थ विराजित हैं। पार्श्वचन्द्रगच्छ की प्रमुख साध्वी शासनप्रभाविका पूज्या ॐकार श्रीजी म०सा० अपनी १० शिष्याओं के साथ विद्यापीठ में ही विराजमान हैं। स्थानकवासी समुदाय के युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी म०सा० की सुयोग्य शिष्यायें-साध्वी चेतनप्रभा श्रीजी म०सा० और डॉ० चन्द्रप्रभा श्रीजी म०सा० भी यहीं विराजमान हैं। अजरामर-सम्प्रदाय की तीन वैरागन बहनें भी यहाँ अध्ययनरत हैं। ये सभी संगोष्ठी में उपस्थित रहे।

संगोष्ठी की अध्यक्षता काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति, सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० पी० रामचन्द्रराव ने की। इसमें बौद्धधर्म, ईसाईधर्म, इस्लामधर्म और कबीरपंथ के प्रमुख विद्वान् एवं विचारक उपस्थित रहे। केन्द्रीय तिब्बती उच्च अध्ययन संस्थान, सारनाथ के कुलपति प्रो० नवाड् सामतेड् और बौद्धविद्या के शीर्षस्थ विद्वान् प्रो० रमाशङ्कर त्रिपाठी ने अहिंसा और धार्मिक सहिष्णुता पर बौद्धधर्म के विचार प्रस्तुत किये। पूज्यश्री मणिभद्र मुनिजी, साध्वी श्री भव्यानन्दजी एवं साध्वी चन्द्रप्रभा श्रीजी ने जैनधर्म का प्रतिनिधित्व किया। आचार्य श्री गङ्गाशरण शास्त्री ने कबीरपंथ एवं फादर राजमोहन ने ईसाईधर्म तथा मौलाना वातिन नोमानी ने इस्लामधर्म का प्रतिनिधित्व किया। कानपुर के भाजपा विधायक श्री सलिल विश्नोई तथा वाराणसी के स्थानकवासी समाज के अग्रगण्य श्रावक श्री आर०के० जैन ने भी इस संगोष्ठी में अपने विचार व्यक्त किये। पार्श्वनाथ विद्यापीठ की प्रबन्ध-समिति के सचिव प्रो० सागरमल जैन ने विषय प्रवर्तन किया।

संगोष्ठी का प्रारम्भ पूज्यश्री मणिभद्रजी म०सा० के मङ्गलाचरण से हुआ। प्रो०



पूज्यश्री मणिभद्रजी म०सा० 'सरल' की ३५वीं जयन्ती के अवसर पर 'जैन धर्म और पर्यावरण संरक्षण' नामक संगोष्ठी में मंचासीन श्री सलिल विश्‍नोई, प्रो०रेवतीरमण पाण्डेय, श्री जगदानन्द सिंह एवं कुँवर विजयानन्द सिंह।



सङ्गोष्ठी में अपने विचार व्यक्त करते हुए पूज्य श्रीमणिभद्र जी 'सरल'। उनके बगल में विराजित हैं श्री पदम मुनि जी० म०सा०।

सागरमल जैन ने संस्थान का परिचय देते हुए संगोष्ठी में उपस्थित लोगों का स्वागत किया। इस अवसर पर व्याख्यान हेतु पधारे विद्वानों को माल्यार्पण, अंगवस्त्र एवं नारियल प्रदान कर सम्मानित किया गया। संगोष्ठी का संचालन पार्श्वनाथ विद्यापीठ के वरिष्ठ प्रवक्ता डॉ० अशोककुमार सिंह ने किया। विद्यापीठ की प्रबन्ध-समिति के संयुक्त सचिव श्री इन्द्रभूति बरड़ ने धन्यवाद प्रस्ताव प्रस्तुत किया। इस अवसर पर विद्यापीठ द्वारा आयोजित **जैन धर्म और पर्यावरण निबन्ध प्रतियोगिता- २००१**, के लिये पुरस्कृत प्रतिभागियों में से उपस्थित दो प्रतिभागियों— डॉ० अर्चना श्रीवास्तव और श्री अमित ब्रह्म को सम्मानित किया गया।

इस संगोष्ठी में प्रख्यात इतिहासविद् प्रो० अवध किशोर नारायण, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रो० सुदर्शनलाल जैन, प्रो० कमला प्रसाद सिंह, प्रो० जयशङ्करलाल त्रिपाठी (अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग), प्रो० माहेश्वरी प्रसाद, शिक्षासङ्घाय के प्रमुख प्रो० हरिकेश सिंह, प्रो० आनन्दशंकर सिंह, प्रो० डी० गंगाधर आदि विद्वान् प्रमुख रूप से उपस्थित थे। संगोष्ठी के आयोजन में विद्यापीठ के सभी अध्यापकों एवं कर्मचारियों का सराहनीय योगदान रहा।

प्रो० माहेश्वरी प्रसाद पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक नियुक्त

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की प्रबन्ध-समिति ने विद्यापीठ के निदेशक पद पर सुप्रसिद्ध इतिहासकार प्रो० माहेश्वरी प्रसाद को प्रतिष्ठित कर विद्यापीठ के गौरव में अभिवृद्धि की है। १ मई को आपने अपना नया कार्यभार सम्भाल लिया।

आपने पी-एच०डी० की उपाधि पश्चिम जर्मनी के गेटिंगन विश्वविद्यालय से प्राप्त की। आपको चार दशकों का लम्बा शैक्षणिक अनुभव है। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, जबलपुर विश्वविद्यालय और डॉ० राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय में अध्यापन किया और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से २००१ में प्रोफेसर पद से निवृत्त हुए। अध्यापन कार्य करते हुए आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा अवध विश्वविद्यालय के विभिन्न प्रशासनिक पदों के उत्तरदायित्व का सफलतापूर्वक निर्वहन किया। देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों की शैक्षणिक समितियों के आप सदस्य हैं। भारत सरकार ने आपको केन्द्रीय तिब्बती उच्च अध्ययन संस्थान की विभिन्न समितियों का सदस्य नामित किया। आप अवध विश्वविद्यालय तथा अरुणांचल विश्वविद्यालय, इटानगर की शैक्षणिक और परामर्शदात्री समिति के सदस्य रह चुके हैं। १९८६-८७ ई० में आप फैजाबाद में लोक अदालत के जूरी रहे हैं। १९८९ में आयोजित आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस के ३४वें सत्र में पुरातत्व-विभाग के तथा १९९० में आयोजित ३५वें सत्र में इतिहास-विभाग के अध्यक्ष पद को आप सुशोभित कर चुके हैं।

१५२ : श्रमण/जनवरी-जून २००२ संयुक्तांक

१९६८ ई० से १९७३ ई० तक आप अपने शोधकार्य के सम्बन्ध में जर्मनी में रहे। इस अवधि में आपको बेल्जियम, इंग्लैण्ड, फ्रान्स, हालैण्ड, इटली और स्विटजरलैण्ड के विभिन्न पुस्तकालयों एवं संग्रहालयों में अध्ययन एवं भ्रमण करने का भी अवसर प्राप्त हुआ। मार्च १९८७ से सितम्बर १९८७ तक आप यूरोप के दौरों पर गये और वहाँ बर्लिन, लीपजिग, हेलसिंकी और प्राग के विश्वविद्यालयों में आपके व्याख्यान आयोजित किये गये। इसी क्रम में आप सोवियत संघ भी गये जहाँ के विभिन्न विश्वविद्यालयों में आपका व्याख्यान हुआ। देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में समय-समय पर आपके व्याख्यान आयोजित होते रहते हैं।

विद्याश्रम परिवार प्रो० माहेश्वरी प्रसाद जी का हार्दिक अभिनन्दन करता है और विश्वास करता है कि आपके कुशल नेतृत्व में पार्श्वनाथ विद्यापीठ शोध के नये कीर्तिमान स्थापित करेगा।

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के निदेशक प्रो० विनोद चन्द्र श्रीवास्तव पार्श्वनाथ विद्यापीठ में

३ मई को भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के निदेशक प्रो० विनोद चन्द्र श्रीवास्तव का विद्यापीठ परिसर में आगमन पर भव्य स्वागत किया गया। विद्यापीठ के नवनियुक्त निदेशक प्रो० माहेश्वरी प्रसाद ने अपने स्वागत वक्तव्य में प्रो० श्रीवास्तव से शिमला संस्थान और विद्यापीठ के मध्य अकादमिक सहयोग को मूर्त रूप प्रदान करने हेतु आवश्यक सहयोग करने का निवेदन किया। इस क्रम में प्रो० श्रीवास्तव ने अपने संस्थान की स्थापना के उद्देश्यों और गतिविधियों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला। उन्होंने जैन-विद्या के क्षेत्र में प्राचीन ग्रन्थों के अनुवाद, सम्पादन एवं सङ्गोष्ठी आदि अपने संस्थान के सहयोग से आयोजित करने में सहायता देने की अपनी प्रतिबद्धता दोहराई।

इस समारोह में प्रो० पुरुषोत्तम सिंह, पूर्व प्रमुख, कला-सङ्घाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, प्रो० के०पी० सिंह, पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, डॉ० मुकुलराज मेहता, पुरातत्त्वविद् श्री एस०एम० जैन तथा बड़ी संख्या में स्थानीय विद्वान् एवं शोधच्छात्र उपस्थित थे।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में चतुर्थ विज्ञान व प्रौद्योगिकी दिवस पर संगोष्ठी का आयोजन

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में ११ मई २००२ को चतुर्थ विज्ञान व प्रौद्योगिकी दिवस पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें मुख्य अतिथि के रूप में डॉ० राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय फैजाबाद के कुलपति सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० रामअचल

सिंह उपस्थित थे। इस संगोष्ठी में प्रो० आर०एन० सिंह, पूर्व निदेशक, प्रौद्योगिकी संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, प्रो० एस०एन० उपाध्याय, प्रौद्योगिकी संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, प्रो० बी०डी० सिंह, बायोटेक्नोलॉजी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, प्रो० पी०सी० उपाध्याय, कुलसचिव, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा डॉ० ए०के० मिश्र, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व विभाग, डॉ० राममनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय फैजाबाद मुख्य वक्ता के रूप में आमन्त्रित किये गये थे। प्रो० पी०सी० उपाध्याय ने संगोष्ठी की अध्यक्षता की।

संगोष्ठी का प्रारम्भ मङ्गलपाठ से हुआ। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के वरिष्ठ प्रवक्ता डॉ० श्रीप्रकाश जी पाण्डेय ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी दिवस के महत्त्व पर प्रकाश डाला। विद्यापीठ के नवनियुक्त निदेशक प्रो० माहेश्वरी प्रसादजी ने आगन्तुक अतिथियों का स्वागत करते हुए विद्यापीठ के संक्षिप्त इतिहास की चर्चा की और प्राचीन भारत में हुई प्रौद्योगिक उपलब्धियों पर बड़े ही प्रभावशाली ढंग से प्रकाश डाला।

प्रो० आर०एन० सिंह ने संगोष्ठी में विचार व्यक्त करते हुए कहा कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। आगे आपने कहा कि विदेशी सभ्यता और संस्कृति की चकाचौंध में हम विज्ञान, प्रौद्योगिकी और संस्कृति की अपनी श्रेष्ठ-परम्परा से विमुख होते जा रहे हैं। प्रो० एस०एन० उपाध्याय ने कहा कि आज विज्ञान और प्रौद्योगिकी विशेषज्ञों के बीच अहम के कारण कुछ विरोधाभास है। उन्होंने यह भी कहा कि विज्ञान सार्वभौमिक और शाश्वत है जबकि प्रौद्योगिकी स्थान और समय सापेक्ष तथा परिवर्तनशील है। उन्होंने विज्ञान और प्रौद्योगिकी को जनता के द्वार तक ले जाने का आह्वान करते हुए कहा कि ऐसा करने से ही देश का सही अर्थों में विकास सम्भव है। जनसामान्य को रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा और स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुविधाओं को उपलब्ध कराने के लिए प्रौद्योगिकी का विकास अपरिहार्य है। प्रो० बी०डी० सिंह ने जैव प्रौद्योगिकी तथा इससे मानव को होने वाले लाभ तथा इसके विकास की सम्भावनाओं पर प्रकाश डाला। डॉ० अशोक कुमार मिश्र ने बतलाया कि प्राचीन भारत में प्रौद्योगिकी का विकास 'ट्रायल एण्ड एरर' के आधार पर हुआ इसी कारण इसकी प्रगति धीमी रही। मुख्य अतिथि पद से बोलते हुए प्रो० रामअचल सिंह ने कहा कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में देश को विकास के शिखर पर ले जाने के लिए राजनीतिज्ञों और अफसरशाही को प्रौद्योगिकी विशेषज्ञों के साथ परस्पर सामन्जस्य और सहयोग की भावना को बढ़ाना बहुत जरूरी है। देश की समृद्धि और विकास तभी सम्भव है जब कि हम स्वयं अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप प्रौद्योगिकी का विकास करें।

संगोष्ठी में कला सङ्घाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पूर्व प्रमुख प्रो० पी० सिंह, संस्कृत-विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रो० के०पी० सिंह, प्रो० सुदर्शनलाल जैन, डॉ०

आर०एस० उपाध्याय, वनस्पतिविज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, डॉ० श्रीमती एन०क्यू० पंकज, डॉ० वशिष्ठनारायण सिन्हा, डॉ० ए०पी० सिंह, श्री एस०एम० जैन, संस्थान में अध्यक्षनार्थ विराजित साधु-साध्वी तथा बड़ी संख्या में शोधार्थी उपस्थित थे। कार्यक्रम का संचालन डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय एवं आभार प्रदर्शन विद्यापीठ के वरिष्ठ प्रवक्ता डॉ० अशोककुमार सिंह ने किया।

विख्यात तान्त्रिक श्री चन्द्रस्वामी पार्श्वनाथ विद्यापीठ में

सुप्रसिद्ध तान्त्रिक जगदाचार्य श्री चन्द्रस्वामी दिनांक २५ मई २००२ को पूर्व निर्धारित कार्यक्रम में भाग लेने के लिए दोपहर १२.०० बजे पार्श्वनाथ विद्यापीठ में पधारे जहाँ विद्यापीठ के पदाधिकारियों एवं बड़ी संख्या में उपस्थित आगन्तुक विद्वानों ने उनका स्वागत किया। कार्यक्रम का प्रारम्भ पूज्य मुनिश्री मणिभद्र जी म०सा० के मङ्गलाचरण से हुआ। इसके पश्चात् श्री चन्द्रस्वामी ने भगवान् महावीर के चित्र पर माल्यार्पण किया। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के वरिष्ठ प्रवक्ता डॉ० अशोककुमार सिंह एवं बड़ौत से पधारे श्री अमितराय जैन ने आगन्तुक अतिथियों का परिचय दिया। विद्यापीठ के निदेशक प्रो० माहेश्वरी प्रसादजी ने अतिथियों का स्वागत भाषण, भारतीय इतिहास में सन् १९३७ के महत्त्व, विद्यापीठ की स्थापना तथा विकासयात्रा का संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त सारगर्भित परिचय प्रस्तुत किया। प्रो० कुमार पंकज, हिन्दी-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, श्री आर०के० जैन, मुगलसराय, श्री राकेश जैन, श्री एस०एम० जैन तथा डॉ० विजयकुमार ने चन्द्रस्वामी को माल्यार्पण किया।



पार्श्वनाथ विद्यापीठ में श्री चन्द्रस्वामी के साथ पूज्य मणिभद्र जी 'सरल' एवं पदम मुनि जी म०सा०

अपने उद्बोधन में श्री चन्द्रस्वामी ने कहा कि काशी भारतीय संस्कृति की पोषक है। भारतीय संस्कृति को समझने के लिए भगवान् कृष्ण, भगवान् महावीर और बुद्ध को समझना जरूरी है। आपने 'ओम् शक्ति ओम्' के उच्चारण के साथ अपना उद्बोधन प्रारम्भ किया। आगे आपने कहा कि भारतीय संस्कृति त्रिवेणी की धारा के समान है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि यह संस्था पिछले लगभग ६० वर्षों से पूरी निष्ठा व सृजनात्मकता के साथ अपना कार्य सम्पादित कर रही है। आगे उन्होंने कहा कि वे केन्द्र सरकार से पार्श्वनाथ विद्यापीठ के लिए नये फण्ड की व्यवस्था करायेंगे और इसे मान्य विश्वविद्यालय का दर्जा दिलवाने के लिए हरसम्भव प्रयास करेंगे। इस अवसर पर उन्होंने पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित नूतन शोधग्रन्थ **हिन्दी गद्य के विकास में जैन मनीषी सदासुखदासजी का योगदान** (लेखिका- डॉ० मुन्नी जैन) का विमोचन भी किया। इस समारोह में संस्थान में विराजित सभी साधु-साध्वी, संस्थान के शोधच्छात्र तथा बड़ी संख्या में स्थानीय विद्वान् उपस्थित थे। कार्यक्रम का संचालन विद्यापीठ के वरिष्ठ प्रवक्ता डॉ० अशोककुमार सिंह ने किया। इस अवसर पर सभी आगन्तुक अतिथियों के अल्पाहार की व्यवस्था श्री आर०के० जैन की ओर से की गयी थी।

दिनांक २६ मई रविवार को श्री चन्द्रस्वामी संस्थान में पुनः पधारे। यहाँ उन्होंने संस्थान के समृद्ध पुस्तकालय एवं प्रकाशनों का अवलोकन किया। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के विकास एवं इसे मान्य विश्वविद्यालय का दर्जा दिलाने की अपनी प्रतिबद्धता दुहराई।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ में १४ ठाणा का भव्य चातुर्मास प्रवेश

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्राङ्गण में श्रमणसंघीय सलाहकार, तपस्वीरत्न श्री सुमति प्रकाश जी म०सा० एवं उपाध्यायप्रवर श्री विशाल मुनि जी म०सा० के सुशिष्य, मानवमिलन के प्रेरक पूज्य श्री मणिभद्र जी म०सा० 'सरल' एवं श्री पदममुनिजी म०सा० ठाणा २; पार्श्वचन्द्रगच्छीय शासनप्रभाविका आर्या खान्तिश्रीजी की शिष्या प्रवर्तिनी ॐकार श्रीजी एवं साध्वी भव्यानन्द जी म०सा० ठाणा-१० तथा श्रमणसंघीय प्रथम युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी महाराज 'मधुकर' की सुशिष्यायें कानकुँवरजी म०सा० तथा चम्पाकुँवर जी म०सा० की शिष्यायें महासती चेतनप्रभा जी एवं महासती डॉ० चन्द्रप्रभा जी म०सा० ठाणा-२ का दि० २१ जून २००२ को प्रातः ८ बजे पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्रांगण में मंगल प्रवेश हुआ। प्रातः ९ बजे मंगल शोभा यात्रा प्रवचन सभा में परिवर्तित हुई। कार्यक्रम का प्रारम्भ पूज्य श्री मणिभद्र जी म०सा० के मंगलाचरण से हुआ। तदुपरान्त सरस्वती वन्दना प्रस्तुत की गयी। कलकत्ता से पधारी प्रेक्षा कोठारी (पिकी) एवं मुमुक्षु वनिता एस० डागा ने स्वागत गीत प्रस्तुत किया। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के मन्त्री प्रो० सागरमल जी जैन ने स्वागत भाषण के दरम्यान संस्थान का परिचय देते हुए यहाँ की शैक्षणिक एवं शोध सम्बन्धी कार्यों की विस्तृत जानकारी दी। अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्था० जैन युवा कान्फ्रेंस

के महामन्त्री श्री अमितराय जैन ने अपने वक्तव्य में संस्थान के गतिविधियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की एवं श्री मणिभद्र जी म०सा० की प्रेरणा से स्थापित जैन युवा कान्फ्रेंस के वाराणसी शाखा के युवाओं को शपथ दिलायी। इस अवसर पर देश के विभिन्न भागों से पधारे स्थानकवासी एवं मूर्तिपूजक समाज के प्रमुख व्यक्तियों ने अपने वक्तव्य प्रस्तुत किये। साध्वी संवेगरसा जी म०सा० एवं साध्वी मैत्रीकला जी म०सा० ने अत्यन्त सुन्दर मर्मस्पर्शी भजन प्रस्तुत किया। साध्वी भव्यानन्द जी म०सा० एवं महासती चन्द्रप्रभा जी म०सा० ने अपने वक्तव्य/प्रवचन से श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर दिया। दिल्ली से पधारे श्री सुभाष ओसवाल ने अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में संस्था को भरपूर सहयोग देने का आश्वासन दिया। इस अवसर पर प्रमुख आगन्तुक अतिथियों को स्मृतिचिन्ह आदि भेंट कर विद्यापीठ की ओर से सम्मानित किया गया। अपने आशीर्वचन में पूज्यश्री मणिभद्र जी म०सा० 'सरल' ने ज्ञान के महत्त्व को बतलाते हुए चातुर्मास की महिमा के बारे में सुन्दर उद्बोधन दिया। समारोह के मुख्य अतिथि श्री कमल सिंह जी रामपुरिया ने चातुर्मास की मङ्गल कामना के भाव प्रस्तुत किये। इस भव्य समारोह के पश्चात् पूज्या ॐकार श्री जी म०सा० एवं साध्वी श्रीभव्यानन्द जी म०सा० की प्रेरणा से नवीन साज-सज्जा से सुसज्जित शतावधानी रतनचन्द्र ग्रन्थालय का लोकार्पण श्री कमल सिंह जी रामपुरिया के करकमलों से सम्पन्न हुआ। पूज्य श्री मणिभद्र जी म०सा० की प्रेरणा से कानपुर की श्रीमती आरती दीपक कोठारी द्वारा प्रदत्त एक नवीन कम्प्यूटर का शुभारम्भ कलकत्ता से पधारी श्रीमती लीलावन्ती खारा ने किया। इस अवसर पर विद्यापीठ के सभी अध्यापकों एवं कर्मचारियों को सम्मानित किया गया। इन कार्यक्रमों में बड़ी संख्या में स्थानीय विद्वान्, वाराणसी के जैन समाज तथा देश के कोने-कोने से पधारे गुरुभक्त उपस्थित रहे। कार्यक्रम का सञ्चालन डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने किया और विद्यापीठ की संचालक समिति के उपाध्यक्ष कुँवर विजयानन्द सिंह ने धन्यवाद ज्ञापित किया। कार्यक्रम के अन्त में सामूहिक भोज का सुन्दर आयोजन रहा। इस भव्य कार्यक्रम को सफल बनाने में विद्यापीठ के नवनियुक्त निदेशक प्रो० माहेश्वरी प्रसाद जी, डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, वरिष्ठ प्रवक्ता डॉ० अशोक कुमार सिंह, डॉ० विजय कुमार, डॉ० सुधा जैन, श्री ओमप्रकाश सिंह (पुस्तकालयाधिकारी—शतावधानी रतनचन्द्र पुस्तकालय) तथा संस्थान के अन्य सभी कर्मचारियों ने अथक परिश्रम किया।

जैनधर्म और पर्यावरण निबन्ध प्रतियोगिता- २००१ के परिणाम घोषित

पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा अपने संस्थापक स्व० लाला हरजसराय जैन की स्मृति में आयोजित जैनधर्म और पर्यावरण निबन्ध प्रतियोगिता २००१ का परिणाम घोषित कर दिया गया और २४ अप्रैल को महावीर जयन्ती के अवसर पर आयोजित भव्य समारोह में उपस्थित प्रतिभागियों को पुरस्कार राशि एवं प्रमाण-पत्र भेंट कर

सम्मानित किया गया।

इस प्रतियोगिता में पुरस्कार विजेताओं का विवरण इस प्रकार है—

- | | | |
|--------|--|---------|
| वर्ग अ | १. कु० रेनु गांधी पुत्री श्री पारसमल गांधी
२४७/४, लखन कोठारी, दर्जी मोहल्ला, अजमेर (राज०) | प्रथम |
| | २. श्री रोहित गांधी
पुत्र— श्री जेठमल गांधी
२४७/४, लखन कोठारी, दर्जी मोहल्ला, अजमेर (राज०) | द्वितीय |
| | ३. कु० निधि जैन
पुत्री— श्री यशपाल जैन, कपड़े के थोक व्यापारी,
शिवपुरी, मध्य प्रदेश | तृतीय |
| वर्ग ब | १. डॉ० अर्चना श्रीवास्तव
पुत्री— श्री मृत्युञ्जय लाल श्रीवास्तव
गुरुद्वारा गली, रामनगर, वाराणसी (उ०प्र०) | प्रथम |
| | २. श्री छैल सिंह राठौर
पुत्र— श्री माधव सिंह राठौर
९४३, कागल हाउस, गांधीपुरा, गली संख्या ५,
बी०जे०एस० कालोनी, जोधपुर (राज०) | द्वितीय |
| | ३. श्री अमित बहल
पुत्र— श्री बी०एन० बहल
सोमबाजार, चन्द्रनगर, दिल्ली ११००५१. | तृतीय |



जैन जगत्

निःशुल्क नेत्र शल्य चिकित्सा, जयपुर पैर एवं कैलीपर वितरण शिविर सम्पन्न

हावड़ा ३० दिसम्बर : आचार्य श्री नानेश की द्वितीय पुण्यतिथि के उपलक्ष्य में श्री जैन हास्पिटल एण्ड रिसर्च सेण्टर, हावड़ा में श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा, कोलकाता की महिला समिति एवं श्री साधुमार्गी जैन श्रावक संघ, हावड़ा के सहयोग से निःशुल्क नेत्र शल्यचिकित्सा, चश्मा, जयपुर पैर एवं कैलीपर वितरण शिविर में ७० नेत्र रोगियों की शल्यचिकित्सा की गयी तथा विकलांगों को जयपुर पैर और कैलीपर प्रदान किये गये। इसी दिन श्री जैन विद्यालय, हावड़ा के प्रांगण में स्नेह भोज एवं मिलन समारोह का भी आयोजन किया गया जिसमें जैन समाज के लोगों ने बड़े ही उत्साह से भाग लिया।

डॉ० फूलचन्द जी 'प्रेमी' का अभिनन्दन

वाराणसी १० जनवरी : आचार्य श्री विरागसागर जी म०सा० के सान्निध्य में दिनांक १० जनवरी २००२ को वाराणसी स्थित भगवान् पार्श्वनाथ दि० जन्मभूमि मन्दिर परिसर में श्री स्यादवाद महाविद्यालय की ओर से आयोजित एक भव्य समारोह में अखिल भारतवर्षीय श्री दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् के नवनिर्वाचित अध्यक्ष डॉ० फूलचन्द जैन 'प्रेमी' का अभिनन्दन किया गया। ज्ञातव्य है कि डॉ० प्रेमी सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के जैन दर्शन विभाग के अध्यक्ष पद पर सुशोभित हैं।

श्री ज्ञानचन्दजी जैन 'पद्मश्री' से सम्मानित

नई दिल्ली, २ फरवरी : श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ ट्रस्ट, हरिद्वार के अध्यक्ष श्री ज्ञानचन्द जी जैन को भारत सरकार द्वारा उनके शिक्षा, प्रकाशन, सामाजिक सेवाओं तथा रचनात्मक कार्यों की अनुशंसा में 'पद्मश्री' उपाधि से अलंकृत करने की घोषणा की गयी। इसी उपलक्ष्य में २ फरवरी को इण्डिया इण्टरनेशनल सेण्टर, नई दिल्ली में एक भव्य समारोह में श्री ज्ञानचन्द जी जैन का जैन समाज की ओर से अभिनन्दन किया गया।

सिद्धगिरि सामूहिक दीक्षा महोत्सव सम्पन्न

श्री सिद्धगिरि सामूहिक दीक्षा महोत्सव समिति द्वारा इस सहस्राब्दी का सबसे बड़ा दीक्षा समारोह दिनांक १० फरवरी से १६ फरवरी तक श्रीशत्रुंजय महातीर्थ पर आयोजित किया गया जिसमें तपागच्छाधिपति आचार्यश्री गुणरत्नसूरीश्वरजी म०सा० के सान्निध्य में १३ पुरुष और २१ महिलाओं ने सामूहिक रूप से दीक्षा ग्रहण की। ज्ञातव्य है कि आचार्यश्री के सान्निध्य में अब तक १७५ दीक्षायेँ सम्पन्न हो चुकी हैं।

अनेकान्त ज्ञान मन्दिर शोध संस्थान का दशम स्थापना दिवस समारोह सम्पन्न

बीना (सागर) २० फरवरी : विलुप्त जैन वाङ्मय के संरक्षण एवं संवर्द्धन के लिए १९९२ में बीना में स्थापित अनेकान्त ज्ञान मन्दिर शोध संस्थान का १०वां स्थापना दिवस १९-२० फरवरी को क्षुल्लक निशंकसागरजी महाराज के सान्निध्य एवं ब्रह्मचारी श्री संदीप जी 'सरल' के कुशल मार्गनिर्देशन में सम्पन्न हुआ। कार्यक्रम की अध्यक्षता सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री रतनचन्द जी जैन ने की। इस समारोह में मुख्य वक्ता के रूप में पधारी डॉ० नीलम जैन ने अनेकान्त ज्ञान मन्दिर को जैन समाज की शिरमौर संस्था बतलाया। ज्ञातव्य है कि अनेकान्त ज्ञान मन्दिर की शाखा के रूप में राजस्थान और मध्य प्रदेश के विभिन्न भागों में अब तक ९ वाचनालयों की स्थापना की जा चुकी है। इसी क्रम में सागर जिले के मालथोन नामक स्थान पर पिछले १७ फरवरी को अनेकान्त ज्ञान मन्दिर की १०वीं शाखा अनेकान्तवाचनालय के नाम से स्थापित की गयी।

मालपुरा में प्रतिष्ठा, दीक्षा समारोह सम्पन्न

दादा जिनकुशलसूरि की प्रत्यक्ष दर्शनस्थली मालपुरा तीर्थ की पवित्र भूमि पर भगवान् वासुपूज्य के शिखरबद्ध मन्दिर, दादावाडी-अम्बिका के मन्दिर की विभिन्न प्रतिमाओं की अंजनशलाका प्रतिष्ठा विशाल जनमेदिनी के समक्ष जैन श्वेताम्बर खरतरगच्छ श्रीसंघ जयपुर एवं मालपुरा प्रतिष्ठा महोत्सव समिति के तत्त्वावधान में २२ फरवरी २००२ को सम्पन्न हुई। इस अवसर पर श्री धर्मेन्द्र सालेचा एवं एवं कु० मनीषा वच्छावत की भागवती दीक्षा भी हुई।

भगवान् महावीर : जीवन एवं दर्शन राष्ट्रीय संगोष्ठी सम्पन्न

इन्दौर २४-२५ फरवरी : अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महिला परिषद्; देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर, गणिनी ज्ञानमती प्राकृत शोधपीठ, हस्तिनापुर तथा अन्य सहयोगी संस्थाओं के सहयोग से इन्दौर में 'भगवान् महावीर : जीवन एवं दर्शन' विषय

१६० : श्रमण/जनवरी-जून २००२ संयुक्तांक

पर २४-२५ फरवरी २००२ को दो दिवसीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। चार सत्रों में चले इस संगोष्ठी में ४० वक्ताओं ने अपने-अपने आलेखों का वाचन किया। संगोष्ठी में विभिन्न ऐतिहासिक पहलुओं के साथ-साथ वर्तमान युग की कई ज्वलन्त समस्याओं पर भी गम्भीर चर्चा हुई। इस अवसर पर कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर द्वारा प्रकाशित दो पुस्तकों का विमोचन भी सम्पन्न हुआ।

स्मृति मन्दिर प्रतिष्ठा महोत्सव सानन्द सम्पन्न

जिनशासनरत्न तपागच्छाधिपति आचार्य विजयरामचन्द्रसूरिजी महाराज की पुण्यस्थली साबरमती- रामनगर (अहमदाबाद) में नवनिर्मित चार मंजिली देवगुरु स्मृति मन्दिर की अंजनशलाका-प्रतिष्ठा महोत्सव का २७ दिवसीय समारोह २७ फरवरी को सानन्द सम्पन्न हुआ। सम्पूर्ण कार्यक्रम स्व० आचार्य विजयरामचन्द्रसूरि जी के अन्तेवासी एवं पट्टधर आचार्य विजयमहोदय सूरिजी की निश्रा में हुआ। २७ दिन तक चले इस भव्य समारोह में ३०० से अधिक साधु एवं लगभग १००० साध्वियों और देश के कोने-कोने से पधारे लाखों गुरु भक्तों ने भाग लिया।

भगवान् महावीर दिगम्बर जैन विद्वत् समिति का गठन

सुजानगढ़ १२ मार्च : भगवान् महावीर के २६००वें जन्म कल्याणक महोत्सव वर्ष में उनके सर्वोदय सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार हेतु इस क्षेत्र के जैन विद्वानों द्वारा भगवान् महावीर दिगम्बर जैन विद्वत् समिति का गठन किया गया।

श्री नरेश मुनिजी म०सा० श्रमणसंघीय उपप्रवर्तक घोषित

श्रमणसंघ के वरिष्ठ प्रवर्तक श्रीरूपचन्दजी म०सा० व श्रमणसंघीय सलाहकार, उपप्रवर्तक श्री सुकनमुनिजी म०सा० ने श्री नरेशमुनिजी म०सा० को विशाल जनमेदिनी के समक्ष अहमदाबाद मण्डी (पंजाब) में श्रमणसंघीय उपप्रवर्तक पद प्रदान किया। प्राप्त समाचारों के अनुसार मुनिश्री का वर्ष २००२ का चातुर्मास अमृतसर में होना सुनिश्चित हुआ है।

आचार्य श्रीरामेश का हरियाणा में भव्य स्वागत

हुक्मसंघ के नवम पट्टधर और व्यसनमुक्ति के प्रेरक आचार्य श्रीरामलालजी म०सा० ठाणा ८ का हरियाणा प्रान्त के मण्डी डबलाली में मंगल प्रवेश अत्यन्त हर्षोल्लास के वातावरण में हुआ। आचार्यश्री का डबलाली से चौटाला, संगरिया और हनुमानगढ़ होते हुए पीलावंगा की ओर विहार सम्भावित है।

शाजापुर (मध्यप्रदेश) में जैनविद्या (जैनोलॉजी) में बी०ए०/एम०ए०/ पी-एच०डी० डिग्री पाठ्यक्रमों के अध्ययन की सुविधा उपलब्ध

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के भूतपूर्व निदेशक, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त जैन विद्वान् डॉ० सागरमलजी ने जैन, बौद्ध और हिन्दूधर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में अध्ययन-अध्यापन, शोधकार्य व ज्ञान-ध्यान साधना हेतु शाजापुर नगर की प्रदूषणरहित प्राकृतिक सुरम्य वातावरण वाली दुपाडा रोड पर **प्राच्य विद्यापीठ** की स्थापना की है, जिसका विशाल एवं सुन्दर भवन तैयार हो गया है। इस विद्यापीठ को इसी वर्ष विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन से भी मान्यता प्राप्त हो गयी है। फलतः यहाँ से शोधार्थी के रूप में जैन, बौद्ध और हिन्दूधर्म एवं दर्शन से सम्बन्धित किसी भी विषय पर शोधप्रबन्ध तैयार कर उसे विक्रम विश्वविद्यालय में प्रस्तुत कर पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त की जा सकती है। इस विद्यापीठ के भवन में ७ सुसज्जित अध्ययन-अध्यापन हॉल, किचन व स्टोर तथा प्रसाधन की समुचित व्यवस्था है। विद्यापीठ में एक सुसज्जित पुस्तकालय है जिसमें लगभग १०,००० पुस्तकें, पत्रिकाएँ एवं पुरानी पाण्डुलिपियां संरक्षित हैं।

डॉ० सागरमलजी के शाजापुर नगर में निवासरत होने व उनके द्वारा इस विद्यापीठ की स्थापना के फलस्वरूप जैन विश्वभारती संस्थान लाडनूँ-राजस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) ने अपने द्वारा संचालित पत्राचार पाठ्यक्रमों के लिए अध्ययन एवं परीक्षा केन्द्र के रूप में **प्राच्य विद्यापीठ** को मान्यता प्रदान की है जो शाजापुर के नागरिकों के लिए बड़े सौभाग्य की बात है। यही कारण है कि अब शाजापुर नगर एवं उसके आस-पास के स्थानों में रहने वाले नागरिकगण **प्राच्य विद्यापीठ** के पुस्तकालय का लाभ लेकर डॉ० सागरमलजी सा० के प्रत्यक्ष मार्गदर्शन में जैनविद्या में बी०ए०/एम०ए० के डिग्री पाठ्यक्रमों में सम्मिलित होकर इस केन्द्र से परीक्षा दे सकते हैं। इन डिग्रियों का रोजगार इत्यादि की दृष्टि से वही उपयोग है जो अन्य विषयों से सम्बन्धित डिग्रियों का है। जैनविद्या में बी०ए०/एम०ए० डिग्री पाठ्यक्रमों के आवेदनपत्र जुलाई २००२ में भरे जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में यदि आप कोई भी जानकारी प्राप्त करना चाहें तो डॉ० सागरमलजी जैन (फोन नं० ०७३६४- २७४२५) या डॉ० राजेन्द्रकुमार जैन (फोन नं० ०७३६४- २६१५३) शाजापुर से प्रत्यक्ष रूप से या फोन पर सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। वर्तमान समय में विद्यापीठ के पुस्तकालय का लाभ लेकर सागरमल जी के मार्गदर्शन में शाजापुर नगर के २ छात्र/छात्रा जैनविद्या में एम०ए० पूर्वाह्न और ९ छात्र-छात्राएँ एम०ए० उत्तराह्न में अध्ययनरत हैं। इसके अतिरिक्त तीन जैन साध्वियां जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ से पी-एच०डी० की उपाधि के लिए अपना शोधप्रबन्ध तैयार कर रही हैं तथा २ छात्रों ने विक्रम विश्वविद्यालय से पी-एच०डी० की डिग्री हेतु पंजीयन कराने के लिए आवेदन किया है। साथ ही विद्यापीठ में प्रति सप्ताह गुरुवार को रात्रि के ८.३० बजे श्रद्धेय सागरमलजी साहब के मंगल

प्रवचन एवं ध्यान-साधना का कार्यक्रम चल रहा है।

प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर में तीन दिवसीय मौन, ज्ञान-ध्यान शिविर सम्पन्न

प्राच्य विद्यापीठ में परम श्रद्धेय गुरु भानुविजयजी महाराज (पाटण- गुजरात) एवं डॉ० सागरमलजी के मङ्गल सान्निध्य एवं मार्गदर्शन में सर्वमङ्गल परिवार (भोपाल-इन्दौर-उज्जैन-शाजापुर) के सौजन्य से दिनांक २८, २९ और ३० मार्च २००२ को आयोजित तीन दिवसीय मौन, ज्ञान-ध्यान शिविर सानन्द सम्पन्न हुआ।

इस शिविर में स्थानीय धर्मप्रेमियों के अतिरिक्त गुजरात एवं मध्यप्रदेश के विभिन्न नगरों से पधारे लगभग १२५ शिविरार्थियों ने सम्मिलित होकर ज्ञान-ध्यान साधना का लाभ लिया। शिविर की दिनचर्या प्रतिदिन प्रातः ४.३० बजे से आरम्भ होकर रात्रि को १०.०० बजे सम्पन्न होती थी, जिसके विभिन्न सत्रों में प्रवचन के अतिरिक्त ध्यान, योगासन एवं प्राणायाम एवं रेकी के विशेषज्ञों की सेवाओं का शिविरार्थियों ने उत्साहपूर्वक लाभ लेकर अपनी जिज्ञासाओं का समाधान भी प्राप्त किया। अन्तिम दिन समापन समारोह के अवसर पर शिविरार्थियों ने शिविर के अपने अनुभव बताये। साथ ही भाव-विभोर होकर गुरुवर भानुविजयजी महाराज एवं सम्माननीय डॉ० सागरमलजी साहब के प्रति श्रद्धापूर्वक नमन किया और श्री एस०डी० कोटक (ध्यान विशेषज्ञ, गुजरात), श्री चन्द्रशेखरजी (योग एवं प्राणायाम विशेषज्ञ), डॉ० सुधा जैन (प्रेक्षा ध्यान विशेषज्ञ- पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी), श्रीमती चित्रा बहन (रेकी मास्टर-देवास), प्रज्ञा बहन- गुजरात तथा श्री विमल भण्डारी - भोपाल (भक्ति गीतों के गायक) के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित की और सर्वमङ्गल परिवार के प्रत्येक सदस्य — श्री शेखरजी गेलड़ा, इन्दौर, श्री सुरेशभाई देशलेहरा- इन्दौर, श्री यशवंत भाई- उज्जैन, श्री शान्तिलालजी- भोपाल, श्री नरेन्द्रभाई, श्री नन्दलालजी शाजापुर— के प्रति इस तीन दिवसीय व्यवस्थित, समुचित व सुन्दर आयोजन के लिये धन्यवाद ज्ञापित किया।

महापुरुषों व अपने पूर्वजों के इतिहास को दोहराना आवश्यक

साध्वी डॉ० अर्चना

जीरा (पंजाब) “वह कौम हमेशा जिन्दा रहती है जो अपने पूर्वजों को याद रखती है इसके विपरीत उनका अस्तित्व शीघ्र मिट जाता है जो अपने बुजुर्गों को भूल जाती हैं। इसलिए महापुरुषों की जन्म जयन्तियों व पुण्य स्मरण के बहाने अपने पूर्वजों के इतिहास को अवश्य दोहराना चाहिए, क्योंकि आने वाली पीढ़ियां उनके महान् चरित्र से प्रेरणा व नसीहत प्राप्त करती हैं। प्रधानाचार्य पूज्यश्री सोहनलालजी महाराज व आचार्यसम्राट् श्री आत्मारामजी महाराज अपने समय के मूर्धन्य विद्वान्, तपस्वी, प्रवक्ता,

स्वाध्यायी, ध्यानी व अप्रमत्त साधक थे। नवकार महामन्त्र के तृतीय पद पर आसीन होकर भी वे जीवन में निराभिमानी, सरल व सहज बने रहे। दोनों महापुरुषों के तेजस्वी, जीवन से पंजाब संघ व भारतवर्ष का सम्पूर्ण स्थानकवासी समाज गौरवान्वित हुआ है। आचार्य श्री सोहनलालजी महाराज को अजमेर सम्मेलन (सन् १९३५) में भारतवर्ष की सम्पूर्ण स्थानकवासी-परम्पराओं के सभी आचार्यों ने अपना प्रधानाचार्य स्वीकार करके उनके अनुपम श्रुत व शील का अभिनन्दन किया। आचार्यश्री आत्मारामजी महाराज को सादड़ी सम्मेलन (सन् १९५२) में बाईस सम्प्रदायों के बत्तीस आचार्यों ने अपने पदों का व्यामोह छोड़ कर एक स्वर से संगठन को महत्त्व देते हुए अपना अनुशास्ता स्वीकार किया। वह आचार्यसम्राट् के पद से विभूषित हुए। दोनों सन्त पंजाब प्रान्त के थे। दोनों के व्यक्तित्व व कर्तृत्व से पंजाब गौरवान्वित हुआ। प्रवर्तिनी श्री पार्वतीजी महाराज अपने समय की महान् विदुषी व शासन प्रभाविका साध्वीरत्न थीं। सोलह रियासतों के राजा समय-समय पर उनके चरणों में उपस्थित होकर मार्गदर्शन प्राप्त करते थे। वह साक्षात् दुर्गा, भगवती व सरस्वती स्वरूपा साध्वी थीं। लब्धियां व सिद्धियां उनके समक्ष नतमस्तक थीं। तत्कालीन समाज में फैली कुरीतियों व विकृतियों पर उन्होंने कठोर प्रहार करके समाज को उनसे मुक्त कराया। निर्व्यसनी अहिंसक समाज की संरचना में उनका योगदान भुलाया नहीं जा सकता। उन्होंने स्त्री शिक्षा, गौ सेवा, स्वधर्म बन्धुओं के प्रति सहयोग व जीवदया के महान् कार्यों के प्रति समाज को जागृत किया।”

उक्त विचार साध्वी डॉ० अर्चनाजी म० ने प्रधानाचार्य श्रीसोहनलालजी म० के १५४वें जन्मोत्सव पर तथा आचार्यसम्राट् श्रीआत्मारामजी महाराज के ४१वें व प्रवर्तिनी श्री पार्वतीजी म० के ६३वें पुण्य स्मरण समारोह पर बोलते हुए व्यक्त किये। इस अवसर पर साध्वी मनीषा जी महाराज ने सभा को सम्बोधित करते हुए कहा — “वे आत्माएं धन्य होती हैं जिनके जीवन के क्रियाकलापों से देश, धर्म, जाति व कुल गौरवान्वित होता है। इस नश्वर व भौतिक संसार में जो आया है एक दिन उसे अवश्य जाना भी होता है पर अपने सत्कर्मों से व्यक्ति अमर हो जाता है। शताब्दियों तक लोग उन्हें भूल नहीं पाते हैं। तीनों महान् आत्माएं श्री सोहनलालजी महाराज, श्री आत्मारामजी महाराज व श्री पार्वतीजी महाराज ने अपने संयमनिष्ठ जीवन से स्वयं का तो उत्थान किया ही, साथ ही जिनशासन की अभूतपूर्व प्रभावना करके जैनधर्म के प्रचार व प्रसार में महान् योगदान दिया। जर्मनी के विद्वान् व शोध विद्यार्थी तीनों महापुरुषों के चरणों में जैनागमों-सम्बन्धी जिज्ञासाओं को शान्त करने व आगमों के गम्भीर रहस्यों को प्राप्त करने के लिए उपस्थित होते रहते थे। आचार्यश्री आत्मारामजी महाराज जैनागमों के प्रथम हिन्दी टीकाकार के रूप में विश्व प्रसिद्ध हैं। समता, धैर्य व अतुल पुरुषार्थ के बल पर ऐतिहासिक कार्यों को इन्होंने अंजाम दिया। श्री अशोककुमार जैन, जीरा के ध्वजारोहण से कार्यक्रम का शुभारम्भ हुआ। श्री जे०के० जैन की अध्यक्षता में समारोह

की गतिविधियाँ सम्पन्न हुईं। सभी अतिथियों का अभिनन्दन एस०एस० जैन सभा के प्रधान श्री विमलकुमार जैन, श्री आत्मानन्द सभा के प्रधान श्री अशोक जैन व श्री कीमतीलाल जैन ने किया।

श्री आत्मवल्लभ विद्यापीठ जीरा, सरस्वती मॉडल स्कूल जीरा, महावीर जैन मॉडल स्कूल, फरीदकोट व जैन गर्ल्स सी० सै० स्कूल लुधियाना की छात्राओं ने सांस्कृतिक-कार्यक्रम प्रस्तुत करके समारोह को भव्यता प्रदान की। संजीव जैन, बबीता जैन, संगीता जैन, कुसुम जैन आदि ने भजन प्रस्तुत किये। गौतमप्रसादी का लाभ श्री सुरेन्द्रकुमार छज्जूराम जैन, जीरा ने लिया। मंच का कुशल संचालन जैनसभा के महामन्त्री श्री रविन्द्र जैन ने किया। इस अवसर पर लुधियाना, अमृतसर, पट्टी, मोगा, मुक्तसर, नाभा, जैतों, फरीदकोट, जण्डियालागुरु व जालन्धर से बड़ी संख्या में पधारे गुरुभक्त उपस्थित थे।

डॉ० श्रीमती कृष्णा जैन सम्मानित

दिल्ली ३१ मार्च : सुप्रसिद्ध लेखिका एवं महारानी लक्ष्मीबाई कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, ग्वालियर में संस्कृत की सहायक प्राध्यापिका डॉ० श्रीमती कृष्णा जैन को उनके रचनात्मक कार्य एवं लेखन आदि का मूल्यांकन करते हुए अखिल भारतीय दिगम्बर जैन महिला संगठन, दिल्ली द्वारा प्रभावशाली महिला विद्वान् के रूप में सम्मानित किया गया।

श्री जवाहराचार्य पर विशेष डाक मुहर एवं आवरण का लोकार्पण

ज्योतिर्धर श्री जवाहराचार्य की १२५वीं जन्म जयन्ती के पावन अवसर पर भारत सरकार के डाक विभाग द्वारा स्वीकृत विशेष पोस्टल स्टाम्प एवं आवरण कवर का लोकार्पण पिछले दिनों राजस्थान प्रान्त के गंगाशहर में आयोजित एक भव्य समारोह में सम्भागीय आयुक्त श्री चन्द्रमोहन मीणा एवं राजस्थान की सहायक महाडाकपाल मधुमिता दास ने किया।

सुश्री इन्दु जैन राष्ट्रगौरव से सम्मानित

कोलकाता १५ अप्रैल, भगवान् महावीर के २६सौवें जन्म कल्याणक महोत्सव वर्ष के उपलक्ष्य में अखिल भारतीय दि० जैन प्रतिभा सम्मान समारोह समिति कोलकाता द्वारा १५ अप्रैल २००२ को कोलकाता स्थित साइंस सिटी सभागार में सुश्री इन्दु जैन को २६ अन्य प्रतिभाओं के साथ 'राष्ट्रगौरव' अलङ्करण से सम्मानित किया गया। सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० फूलचन्द जी जैन 'प्रेमी' की सुपुत्री सुश्री इन्दु को यह सम्मान



रंगमंच कलाकार के रूप में अभिनय, गायन और कार्यक्रम संचालन की विशेष दक्षता के आधार पर दिया गया।

डॉ० फूलचन्द जैन 'प्रेमी' गोम्मटेश्वर पुरस्कार से सम्मानित



सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के जैनदर्शन-विभाग के अध्यक्ष एवं अखिल भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् के राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ० फूलचन्द जैन 'प्रेमी' २५ अप्रैल को श्रवणबेलगोला में एक भव्य समारोह में चारुकीर्ति भट्टारक स्वामीजी द्वारा गोम्मटेश्वर पुरस्कार से सम्मानित किये गये। डॉ० जैन को यह पुरस्कार जैनधर्म, दर्शन, संस्कृति एवं साहित्य के क्षेत्र में किये गये योगदान के लिए प्रदान किया गया। ज्ञातव्य है कि श्री प्रेमी पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पूर्व छात्र हैं और यहीं उन्होंने अपना शोधप्रबन्ध तैयार किया है।

बासोकुण्ड में विद्वत् संगोष्ठी सम्पन्न

मुजफ्फरपुर २५-२६ अप्रैल : वासोकुण्ड-मुजफ्फरपुर स्थित प्राकृत जैन शास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली में भगवान् महावीर के २६००वें जन्म कल्याणक महोत्सव वर्ष के समापन के अवसर पर २५-२६ अप्रैल २००२ को "आतंकवाद के शमन में तीर्थङ्कर महावीर के उपदेशों की प्रासंगिकता" नामक विषय पर दो दिवसीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। संगोष्ठी के विभिन्न सत्रों में कई महत्त्वपूर्ण आलेखों का वाचन हुआ। इसी समारोह में संस्थान द्वारा प्रकाशित नूतन ११ ग्रन्थों का विमोचन तिरहुत मण्डल के आयुक्त ने किया।

'महाबलीपुरम्' में ऐतिहासिक प्रतिष्ठा समारोह सम्पन्न

नई दिल्ली २६ अप्रैल : श्रेष्ठिवर्य हरखचन्दजी नाहटा के परिजनों द्वारा नयी दिल्ली के निकटवर्ती भाटी गाँव में विकसित 'महाबलीपुरम्' में नवनिर्मित पार्श्व-पद्मावती जिनालय में २२-२६ अप्रैल तक प्रतिष्ठा महोत्सव सोल्लास सम्पन्न हुआ। इस समारोह में अंचलगच्छ, तपागच्छ और खरतरगच्छ के पूज्य साधु-साध्वी (कुल ठाणा ४६) उपस्थित थे। दिल्ली के इतिहास में यह एक अनूठा अवसर था जबकि किसी धार्मिक समारोह में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज के सभी प्रमुख सम्प्रदायों के आचार्य एक साथ उपस्थित रहे। इस नूतन जिनालय के निर्माण का पूर्ण दायित्व स्व० हरखचन्दजी नाहटा के तीनों सुयोग्य पुत्रों — ललित, प्रदीप एवं दिलीप ने वहन किया।

पुरस्कार वितरण समारोह एवं पाण्डुलिपि प्रदर्शनी

जयपुर १२ मई : जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी तथा अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर द्वारा संचालित विभिन्न पाठ्यक्रमों में वरीयता प्राप्त छात्रों को पुरस्कृत करने हेतु १२ मई को स्थानीय तोतूका भवन, दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी में, पुरस्कार वितरण समारोह का आयोजन किया गया। इस अवसर पर इन्टैक भारतीय संरक्षण संस्थान परिषद्, लखनऊ के सहयोग से स्थापित महावीर दिगम्बर जैन पाण्डुलिपि संरक्षण केन्द्र, जयपुर द्वारा संरक्षित पाण्डुलिपियों की प्रदर्शनी भी आयोजित की गयी।

पूजन प्रशिक्षण शिविर सम्पन्न

बीना १९ मई : भगवान् महावीर की २६००वीं जन्म जयन्ती के पावन अवसर पर अनेकान्त ज्ञान मन्दिर, बीना द्वारा प्रायोजित पूजन प्रशिक्षण शिविर की शृङ्खला में पांचवां शिविर मुनिश्री सरलसागरजी महाराज के सान्निध्य में श्री दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर, बीना में दिनांक ८ मई को प्रारम्भ हुआ जो दिनांक १७ मई तक चला। इस शिविर में कुल ३५० लोगों ने भाग लिया।

तीन हजार वरसीतप : जैन शासन में विश्व रेकॉर्ड आचार्य सम्राट् अजरामर स्वामी का सर्वत्र जयजयकार

जगत् को अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह तथा प्रेम एवं करुणा का शाश्वत सन्देश प्रदान करने वाले भगवान् महावीर के २६००वें जन्म कल्याणक एवं जैन ज्योतिर्धर, युगपुरुष, श्री अजरामरजी स्वामी के २५००वें जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में श्री स्थानकवासी जैन लीम्बडी अजरामर सम्प्रदाय की ओर से आयोजित आराधना वर्ष के अन्तर्गत एकान्तर उपवासपूर्वक २६०० वर्षीतप का आयोजन किया गया। जैन शासन में २५०० वर्ष के इतिहास में इस प्रकार का आयोजन प्रथम बार होने से असम्भव सा लग रहा था लेकिन देव-गुरु की महती कृपा एवं अजरामर गुरु के प्रत्यक्ष प्रभाव से जिनशासन में वर्षीतप का कीर्तिमान स्थापित हुआ। २६०० की जगह ३००० श्रद्धालु इस कठिन तपश्चर्या में जुड़े हैं जिसमें १०० जितने पू० साधु-साध्वीजी भी शामिल हैं।

राजीव गांधी मानव सेवा पुरस्कार श्री मोहन भाई को

जयपुर २५ मई, केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मन्त्रालय की राष्ट्रीय चयन समिति द्वारा राजीव गांधी मानव सेवा पुरस्कार २००१ हेतु बाल विकास व बाल कल्याण के क्षेत्र में उत्कृष्ट योगदान के लिये श्री मोहन भाई को प्रदान करने की घोषणा की गयी है। इस पुरस्कार के अन्तर्गत १ लाख रुपये नकद व प्रशस्तिपत्र प्रदान किया

जाता है। चुरु (राजस्थान) में सन् १९१९ में जन्मे श्री मोहन भाई १८ वर्ष की उम्र से ही स्वतन्त्रता आन्दोलन में कूद पड़े और देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् उन्होंने समाज सेवा का क्षेत्र चुना एवं बाल शिक्षण व संस्कार को अपना मुख्य लक्ष्य बना लिया और धीरे-धीरे अपने कठिन प्रयासों से पूरे बीकानेर संभाग को शिक्षा के क्षेत्र में समृद्ध बना दिया। महात्मा गांधी और आचार्य तुलसी को अपना आदर्श मानने वाले श्री मोहनभाई बच्चों को भगवान् के समकक्ष दर्जा देते हुए उन्हें राष्ट्र का भविष्य मानते हैं। वे मानते हैं कि नई पीढ़ी के सही दिशादर्शन के लिये शिक्षकों व अभिभावकों को उचित प्रशिक्षण व प्रेरणा की आवश्यकता है।

दिल्ली में ग्रीष्मकालीन अध्ययनशाला सम्पन्न

दिल्ली १६ जून : भोगीलाल लहेरचन्द इंस्टिट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, दिल्ली द्वारा प्रति वर्ष की भाँति इस वर्ष भी प्राकृतभाषा एवं साहित्य, जैन धर्म व दर्शन और पाण्डुलिपि विज्ञान एवं शोध प्रविधि इन तीन विषयों पर अलग-अलग तीन-तीन सप्ताहों की एक कार्यशाला का आयोजन किया गया। कार्यशाला का प्रारम्भ २६ मई को हुआ। उद्घाटन समारोह में राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के निदेशक प्रो० व्ही०कुटुम्ब शास्त्री अध्यक्ष तथा प्रो० प्रेम सिंह मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे। उक्त विषयों में देश के विभिन्न भागों से पधारे ३६ प्रतिभागियों ने भाग लिया। दिनांक १६ जून को कार्यशाला की समाप्ति पर समापन समारोह का आयोजन रहा जिसमें भारत सरकार के योजना विभाग के सदस्य माननीय श्री सोमपाल शास्त्री मुख्य अतिथि रहे। इस अवसर पर संस्था के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा इससे जुड़े अन्य विशिष्ट जन बड़ी संख्या में उपस्थित थे।

भगवान् सुपार्श्वनाथ का जन्म कल्याणक दिवस समारोह सम्पन्न

वाराणसी २२ जून, भदौनी स्थित भगवान् सुपार्श्वनाथ के दि० जैन मन्दिर में ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी शनिवार तदनुसार २२ जून २००२ को भगवान् सुपार्श्वनाथ का जन्म-तप कल्याणक दिवस मनाया गया जिसमें विभिन्न धार्मिक कार्यक्रम सम्पन्न हुए। इस अवसर पर बड़ी संख्या में उपस्थित श्रद्धालुओं ने दर्शन-पूजन का लाभ लिया।

जैनधर्म की सर्वोत्तम पुस्तकों पर पुरस्कार की घोषणा

भगवान् महावीर फाउण्डेशन, चेन्नई ने भगवान् महावीर के २६००वें जन्म कल्याणक महोत्सव वर्ष के उपलक्ष्य में जैनधर्म एवं दर्शन की सर्वोत्तम पुस्तकों पर दो लाख रुपये पुरस्कार स्वरूप प्रदान करने का निर्णय किया है—

१. हिन्दी-भाषा में लिखित सर्वोत्तम पुस्तक - १ लाख रुपये

२. अंग्रेजी-भाषा में लिखित सर्वोत्तम पुस्तक - १ लाख रुपये

पुस्तक में भगवान् महावीर के सार्वभौमिक सिद्धान्तों का आधुनिक ढंग से प्रतिपादन तथा वर्तमान युग की समस्याओं के समाधान में उनकी उपयोगिता की चर्चा होनी अनिवार्य है। पुस्तक २५० पृष्ठों (मुद्रित) से अधिक नहीं होनी चाहिए। अप्रकाशित पुस्तकों को ६ प्रतियां भेजनी होगी। पुस्तकें भेजने की अन्तिम तिथि ३०.११.२००२ है। इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी निम्नलिखित पते पर प्राप्त की जा सकती है -

श्री दुलीचन्द जैन, संयोजक, भगवान् महावीर फाउण्डेशन, पोस्ट बॉक्स नं० २९८३, ११ पोन्नप्पा लेन, टिप्लीकेन हाई रोड, चेन्नई-६००००५.

जैन समाज की गौरव कु० राजुल बोरुन्दिया

पेरुम्बूर, चेन्नई निवासी कु० राजुल बोरुन्दिया (सुपुत्री श्री विमलचन्द जी बोरुन्दिया) ने इण्टरमीडिएट की वार्षिक परीक्षा- वाणिज्य वर्ग में १२०० में ११११ अंक प्राप्त कर परिवार और समाज के गौरव में अभिवृद्धि की। तीन वर्ष पूर्व राजुल के भाई अमितराज ने भी इसी परीक्षा में १२०० में से ११२८ अंक प्राप्त किये थे। पार्श्वनाथ विद्यापीठ की ओर से कु० राजुल को उनकी इस उपलब्धि के लिए हार्दिक बधाई।

प्रो० पन्नालाल जैन डाक्टरेट की उपाधि से विभूषित

शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, दमोह में भौतिक शास्त्र के अध्यक्ष प्रो० पन्नालाल जैन को उनके द्वारा लिखित शोधग्रन्थ 'चार्य कैरियर माइग्रेसन एण्ड प्रेपिंग प्रापर्टीज ऑफ सम ऑफ दी लीडिंग ऑर्गेनिक पॉलीमर्स' पर डॉ० हरीसिंह गौर सागर विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच०डी० की उपाधि प्रदान की गयी। प्रो० जैन को इनकी इस उपलब्धि के लिये बधाई।

पालिताना में एक ही समुदाय के ६०० साधु-साध्वियों का प्रथम बार चातुर्मास

स्व० आचार्य विजयरामचन्द्रसूरि महाराज के समुदाय के ६०० साधु-साध्वियों का वर्ष २००२ का चातुर्मास शत्रुञ्जय गिरिराज की तलहटी में स्थित पालिताना नगर में होने जा रहा है। ज्ञातव्य है कि इस समुदाय के गच्छाधिपति श्रीविजयमहोदयसूरि जी म०सा० का २८ अप्रैल २००२ को निधन हो गया। अपने निधन से पूर्व उन्होंने अपने पूरे समुदाय के साथ पालिताना में चातुर्मास करने की भावना व्यक्त की थी। स्व० आचार्यश्री की भावना का सम्मान करते हुए उनके समुदाय के १५ आचार्य भी यहीं

चातुर्मास व्यतीत करेंगे। वि०सं० २०५८ आषाढ सुदि २ शुक्रवार तदनुसार १२ जुलाई २००२ को सभी पूज्यों का चातुर्मास प्रवेश होने जा रहा है।

आचार्य कलाप्रभसागर जी म० का चातुर्मास प्राचीन दत्ताणी महाविदेहतीर्थ धाम में

अचलगच्छीय आचार्य कलाप्रभसागर जी म०सा० ठाणा-६ का वर्ष २००२ का मंगल चातुर्मास प्रवेश प्राचीन दत्ताणी महाविदेहतीर्थ धाम में दिनांक ११ जुलाई को सम्पन्न हुआ। इस पुनीत अवसर पर देश के विभिन्न भागों से बड़ी संख्या में पधारे गुरु भक्तों एवं स्थानीय संघ ने बड़े उत्साह से भाग लिया। चातुर्मास की अवधि में आचार्यश्री की पावन निश्रा में विभिन्न कार्यक्रम सम्पन्न होंगे।

श्री रमेश मुनि जी डॉ० राजेन्द्र मुनि जी का चातुर्मास जालन्धर में

श्रमण संघ के तृतीय पट्टधर आचार्य देवेन्द्र मुनि शास्त्री के विद्वान् शिष्य पण्डितरत्न श्री रमेश मुनि जी, उपप्रवर्तक डॉ० राजेन्द्रमुनि जी ठाणा ४ का २१ जुलाई को जालन्धर नगर में चातुर्मासार्थ मंगल प्रवेश हुआ। प्रवेशोत्सव की विशाल शोभा यात्रा में स्थानीय जैन समाज के अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों से बड़ी संख्या में पधारे गुरु भक्तों ने अत्यन्त उत्साह के साथ भाग लिया।

चातुर्मास स्थल : जैन स्थानक, गुड़ मण्डी, कोतवाली बाजार, जालंधर (पंजाब)

पूज्य सुमतिप्रकाश जी म० ठाणा ९ का चातुर्मास जम्मू में

श्रमणसंघीय सलाहकार पूज्य श्री सुमति प्रकाश जी, वरिष्ठ उपाध्यक्ष उपाध्याय प्रवर डॉ० विशालमुनि जी ठाणा ९ और महासती श्री पूजा ज्योति जी म०सा० ठाणा ७ का सम्वत् २०५९ का चातुर्मास जैन स्थानक, जैन बाजार, जम्मू में होने जा रहा है। उक्त सभी साधु-साध्वियों का ६ जुलाई को जम्मू में प्रवेश होगा और २० जुलाई को जैन स्थानक में चातुर्मास प्रवेश का कार्यक्रम होगा। चातुर्मास की अवधि में प्रतिदिन प्रार्थना, प्रवचन, शास्त्र स्वाध्याय, प्रतिक्रमण और धर्म चर्चा के कार्यक्रम होंगे जो सूर्योदय से प्रारम्भ होकर रात्रि के ९ बजे चलेंगे।

मुनि श्री १०८ अरुणसागर जी महाराज का चातुर्मास देवबन्द में

आचार्यश्री पुष्पदन्त सागर जी के शिष्य मुनिश्री अरुणसागर जी म०सा० का वर्ष २००२ का मंगल चातुर्मास देवबन्द (सहारनपुर, उत्तर प्रदेश) में होना सुनिश्चित हुआ है। २३ जुलाई को मुनिश्री के चातुर्मास की स्थापना होगी। देवबन्द नगर में ७७ वर्षों के उपरान्त किसी मुनि का चातुर्मास हो रहा है।

श्री सौभाग्य मुनि जी 'कुमुद' का चातुर्मास अहमदाबाद में

श्रमण संघीय महामन्त्री श्री सौभाग्य मुनि जी 'कुमुद' एवं उपप्रवर्तक श्री विजयमुनि जी 'वागीश' ठाणा ५ का दि० १८ जुलाई को शाहीबाग, अहदाबाद में चातुर्मासार्थ मंगल प्रवेश हुआ। इसी अवसर पर स्व० उपाध्याय कन्हैयालाल जी 'कमल' द्वारा सम्पादित गणितानुयोग भाग २ के विमोचन का कार्यक्रम भी सम्पन्न हुआ।

श्री गणेश प्रसाद वर्णी स्मृति साहित्य पुरस्कार हेतु ग्रन्थ आमन्त्रित

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, भदौनी, वाराणसी द्वारा प्रवर्तित श्री गणेश प्रसादवर्णी स्मृति साहित्य पुरस्कार, वर्ष २००२ के पुरस्कार के लिये जैन धर्म, दर्शन, साहित्य, सिद्धान्त, समाज, संस्कृति, भाषा एवं इतिहास विषयक मौलिक सृजनात्मक, चिन्तन, अनुसन्धानात्मक, शास्त्रीय परम्परा युक्त कृति की ४ प्रतियाँ ३१ अगस्त २००२ तक आमन्त्रित हैं। ज्ञातव्य है कि इस पुरस्कार में ५००१/- रुपया नकद तथा प्रशस्तिपत्र प्रदान किया जाता है। वर्ष २००१ का उक्त पुरस्कार सुप्रसिद्ध सर्वोदयी विचारक एवं लेखक श्री जमनालाल जैन को उनकी कृति चिन्तन प्रवाह : सेवा से श्रेयस की ओर को प्रदान करने की घोषणा की जा चुकी है।

श्री हीरालाल जैन अध्यक्ष निर्वाचित

पंचकूला ४ अगस्त : समाजरत्न श्री हीरालाल जैन (लुधियाना) सर्वसम्मति से ४ अगस्त को श्री जिनेन्द्र गुरुकुल, पंचकूला (हरियाणा) की प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। इस अवसर पर समाज के २० अन्य व्यक्ति भी कार्यसमिति के सदस्य चुने गये। श्री हीरालाल जैन को कार्यसमिति के पदाधिकारियों को नियुक्त करने का भी अधिकार दिया गया। हमारे लिये यह अत्यन्त गौरव की बात है कि श्री हीरालाल जी पार्श्वनाथ विद्यापीठ के कार्यकारी अध्यक्ष भी हैं। विद्यापीठ परिवार श्री हीरालाल जी की इस उपलब्धि पर उनका हार्दिक अभिनन्दन करता है।

श्रद्धाञ्जलि

श्री नरेन्द्रपत सिंह जी दूगड़ का निधन

जैन भवन, कोलकाता के अध्यक्ष तथा स्थायी ट्रस्टी श्री नरेन्द्रपत सिंह दूगड़ का १ जनवरी २००२ को देहावसान हो गया। आपका जन्म १९१६ ई० में हैरावत स्टेट के जमींदार सुरपत सिंह की धर्मपत्नी श्रीमती मैना कुमारी देवी की कुक्षी से हुआ। आपकी शिक्षा प्रेसीडेन्सी कॉलेज, कलकत्ता में हुई। आपके पास प्राचीन और नवीन सिक्कों का बड़ा संग्रह था और इस सम्बन्ध में आप अच्छी जानकारी रखते थे। आपके तीन पुत्र और एक पुत्री हैं। आपकी स्मृति में जैन भवन में ५ जनवरी को दिन में ३.००

बजे एक श्रद्धाञ्जलि सभा का आयोजन किया गया जिसमें कलकत्ता जैन समाज व विभिन्न संस्थाओं के प्रतिनिधि उपस्थित थे।

आचार्य विजय इन्द्रदिन्नसूरिजी स्वर्गस्थ

तपागच्छीय श्री आत्मवल्लभ समुद्रपट्ट-परम्परा के गच्छाधिपति श्री विजयइन्द्र-दिन्नसूरिजी म०सा० का ४ जनवरी २००२ को अम्बाला में निधन हो गया। आपका जन्म वि०सं० १९८० में बड़ोदरा स्टेट के मालपुरा ग्राम में हुआ था। वि०सं० १९९९ में आपने दीक्षा ग्रहण की और वि०सं० २०३४ में आपको आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया। आपने अपने दीक्षा पर्याय के ६ दशकों तक बड़ी संख्या में परमार क्षत्रियों को जैनधर्म में दीक्षित किया।

युगपुरुष भँवरलाल जी नाहटा दिवंगत

जैन साहित्य महारथी, युगपुरुष भँवरलालजी नाहटा का ११ फरवरी २००२ को कोलकाता में निधन हो गया। सन् १९११ बीकानेर में जन्मे नाहटाजी ने सात दशकों तक जैन-साहित्य के अध्ययन-संशोधन और लेखन के क्षेत्र में नये आयाम प्रस्तुत किये। उनके द्वारा प्रारम्भ किये गये उक्त कार्यों को जारी रखना ही उन्हें सच्ची श्रद्धाञ्जलि है। श्रमण का प्रस्तुत अंक आपकी स्मृति में प्रकाशित है।

आचार्य कलापूर्णसूरिजी महाराज का स्वर्गवास

सुप्रसिद्ध अध्यात्मयोगी तपागच्छीय आचार्य विजयकलापूर्णसूरि का १६ फरवरी २००२ को राजस्थान प्रान्त के जालोर जिलान्तर्गत स्थित केशवणा नामक स्थान पर निधन हो गया। आपका जन्म वि०सं० १९८० में फलौदी (राजस्थान) में हुआ था। फलौदी में ही आपने दीक्षा प्राप्त की तथा सं० २०२९ में आचार्य बने। आचार्यश्री के पार्थिव शरीर का अन्तिम संस्कार गुजरात प्रान्त के पाटन जिले में अवस्थित शंखेश्वर तीर्थधाम में आगम मन्दिर के निकट सम्पन्न हुआ जिसमें बहुत बड़ी संख्या में श्रद्धालुजन उपस्थित रहे।

प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी का निधन

श्रमण संस्कृति के विशेषज्ञ तथा प्राच्य भारतीय भाषाओं के तलस्पर्शी विद्वान् प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी का दिनांक १० मार्च को निधन हो गया। ज्ञातव्य है आप लम्बे समय तक सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से जुड़े रहे और वहीं से अवकाश भी ग्रहण किया। पार्श्वनाथ विद्यापीठ से आपका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध रहा और समय-समय पर यहाँ पधारते रहे। विद्यापीठ परिवार की ओर से प्रो० तिवारी को हार्दिक श्रद्धाञ्जलि।

आचार्य विजयमहोदयसूरिजी म० दिवंगत

तपागच्छाधिपति आचार्य विजयरामचन्द्रसूरिजी म०सा० के पट्टधर आचार्य विजयमहोदयसूरिजी म०सा० का २८ अप्रैल को अहमदाबाद में निधन हो गया। आप पिछले डेढ़ माह से पक्षाघात से पीड़ित थे। पिछले फरवरी माह में ही साबरमती-अहमदाबाद में विजयरामचन्द्रसूरि स्मृति मन्दिर की प्रतिष्ठा का ऐतिहासिक महोत्सव आपश्री की निश्रा में आयोजित किया गया था। आपका अन्तिम संस्कार आनन्दधाम, अहमदाबाद में सम्पन्न हुआ जिसमें देश के कोने-कोने से पधारे श्रद्धालुओं ने बड़ी संख्या में उपस्थित होकर आपको भावभीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ उक्त सभी महानुभावों के प्रति हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है।

प्रो० वी० वेंकटाचलम स्वर्गस्थ

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति एवं संस्कृति के शीर्षस्थ विद्वान् प्रो० वी० वेंकटाचलम का दिनांक ७ जून को चेन्नई में निधन हो गया। आपके निधन से एक युग का अन्त हो गया। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय दरभंगा के कुलपति तथा लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ के कुलाधिपति और कौंसिल ऑफ इण्डियन फिलॉसफिकल रिसर्च के चेयरमैन जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पदों का अत्यन्त कुशलापूर्वक निर्वहन किया। १९९० से १९९२ तक आपने दिल्ली स्थित भोगीलाल लहेरचन्द इंस्टिट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी के निदेशक पद को सुशोभित किया। पार्श्वनाथ विद्यापीठ से आपका निकट सम्बन्ध रहा और कई बार विभिन्न समारोहों में आप वहाँ पधारे। आपके निधन से संस्कृत जगत् की अपूरणीय क्षति हुई है। विद्यापीठ परिवार की ओर से प्रो० वेङ्कटाचलम को हार्दिक श्रद्धाञ्जलि।



साहित्य-सत्कार

षट्खण्डागम की शास्त्रीय भूमिका, डॉ० हीरालाल जैन, प्रकाशक— प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, पृष्ठ ५१२, प्रथम संस्करण-ई० सन् २०००, मूल्य ४९५/- रुपये।

परम श्रद्धेय स्व० डॉ० हीरालाल जी जैन मेरे शोधप्रबन्ध 'जैन धर्म में अहिंसा विचार' के परीक्षक थे। यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है कि मुझे उनकी महत्त्वपूर्ण कृति एवं उनके विषय में अपने भाव व्यक्त करने का सुअवसर मिला है। डॉ० हीरालालजी जैन मात्र जैन परम्परा ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति के मनीषी थे। उनके जैसे ज्ञानी पुरुष सदा अभिनन्दनीय होते हैं, वन्दनीय होते हैं। प्रस्तुत कृति तथा प्रकाशन की प्रक्रिया में षट्खण्डागम के १६ भाग उनके बीस वर्षों के अथक परिश्रम के सुफल हैं। इस महान कार्य से उन्होंने जैन साहित्य का उद्धार तथा जैन साहित्य-प्रेमियों का बहुत बड़ा उपकार किया है। इसके लिए प्राच्य विद्या से सम्बन्धित सभी लोग सामान्य रूप में तथा जैन विद्या-प्रेमी विशेष रूप में उनके सदा ऋणी रहेंगे।

सन्तों के आशीर्वाद से कठिन से कठिन कार्य भी आसान हो जाते हैं। प्रस्तुत प्रकाशन को परम पू० उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज का आशीर्वाद प्राप्त है यह अति प्रसन्नता की बात है। उनके आशीर्वाद से जैन साहित्य आगे भी समृद्ध होता रहेगा, ऐसी आशा है।

पुस्तक की बाह्य रूपरेखा आकर्षक है तथा छपाई साफ-सुथरी है अतः प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

— डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

जैन न्याय को आचार्य अकलंकदेव का अवदान, सम्पादक— डॉ० कमलेश कुमार जैन, डॉ० जयकुमार जैन, डॉ० अशोक कुमार जैन, प्रकाशक— प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, उ०प्र०, पृ० १९८, प्रथम संस्करण १९९९ ई०, मूल्य-१००/- रुपये।

प्रस्तुत कृति दिनांक २७, २८, २९ अक्टूबर १९९६ को शाहपुर (मुजफ्फरनगर) में आचार्य अकलंकदेव पर आयोजित अखिल भारतीय विद्वत् संगोष्ठी में विद्वानों द्वारा पढ़े गए निबन्धों का संकलन है। आचार्य अकलंकदेव ने जैन न्याय को सुव्यवस्था एवं सुदृढ़ता प्रदान की है जिसके कारण कभी-कभी जैन न्याय को

अकलंक न्याय के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से निबन्धों में अकलंकदेव की विविध दृष्टियों को प्रकाशित किया है जिससे न्याय जैसे कठिन विषय को स्पष्टता एवं सरलता प्राप्त हुई है। श्रद्धेय पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री और पं० दरबारी लाल कोठिया के निबन्धों के सङ्कलन से इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है। जैन न्याय में रुचि रखने वाले जिज्ञासुओं के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। सम्पादकगण— डॉ० कमलेश कुमार जैन, डॉ० जय कुमार जैन तथा डॉ० अशोक कुमार जैन द्वारा किया गया सम्पादन कार्य सराहनीय है। इन युवा विद्वानों को मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ हैं और इन लोगों से आशा है कि आगे भी संगोष्ठी, संकलन, सम्पादन आदि कार्यों से ये जैन साहित्य को समृद्ध करते रहेंगे। पुस्तक की साजसज्जा आकर्षक और मुद्रण त्रुटिरहित है।

— डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

उत्तराध्ययनसूत्र (दार्शनिक अनुशीलन एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसका महत्त्व), साध्वी डॉ० विनीत प्रज्ञा, प्रकाशक— श्री चन्द्रप्रभु महाराज, जूना जैन मन्दिर ट्रस्ट, ३४५, मिन्ट स्ट्रीट, साहुकारपेठ, चेन्नई-६०००७०, पृष्ठ ६०४, प्रथम संस्करण- २००२ ई०, मूल्य ३००/- रुपये।

प्रस्तुत ग्रन्थ साध्वी डॉ० विनीत प्रज्ञा के शोधप्रबन्ध का प्रकाशित रूप है। इसमें कुल १७ अध्याय हैं जिनसे उत्तराध्ययनसूत्र के सर्वांगीण अध्ययन की झलक मिलती है। इससे पहले भी उत्तराध्ययनसूत्र पर विभिन्न विद्वानों ने काम किए हैं। किन्तु इसका दार्शनिक पक्ष समुचित ढंग से विवेचित नहीं हो पाया था जिसकी पूर्ति इस पुस्तक में हुई है। इसमें अध्ययन की विविधता, व्यापकता तथा गहराई अवलोकित होती है। इस गहन अध्ययन के लिए लेखिका को बहुत-बहुत बधाईयाँ। पुस्तक की बाह्याकृति आकर्षक है तथा छपाई भी सुन्दर है अतः प्रकाशक भी बधाई के पात्र हैं।

— डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

स्याद्वादमञ्जरी, प्रधान सम्पादक- श्री मोतीलाल लाघा जी, लाभार्थी- श्री नगीनभाई पौषधशाला, श्री केसरबाई ज्ञानमन्दिर ट्रस्ट, पाटण (उ०मु०), द्वितीय संस्करण, वि०सं० २०५८, मूल्य ८०/- रुपये।

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य विरचित अन्ययोगव्यवच्छेदद्वित्रिंशिका पर श्रीमल्लिषेण द्वारा की गई टीका का स्वतन्त्र नामकरण स्याद्वादमञ्जरी के रूप में हुआ है। इस विवेचन को भी विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। उसी क्रम में एक विवेचन एवं सम्पादन श्री लाघाजी द्वारा भी जैन विद्या प्रेमियों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है जो महत्त्वपूर्ण है। पुस्तक को देखने से सम्पादक की शैली एवं भावपूर्वक किए गए विवेचन का जो बोध होता है वह सराहनीय है। यदि इसमें संस्कृत विवेचन के साथ

हिन्दी अथवा गुजराती अर्थ भी दिया गया होता तो पुस्तक की उपयोगिता और बढ़ गई होती क्योंकि स्याद्वादमञ्जरी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में भी है। इस कार्य के लिए सम्पादक बधाई के पात्र हैं। पुस्तक सुन्दर और छपाई सुस्पष्ट है।

— डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

श्रीसागरानन्दसूरिशतक, रचयिता- सुमन्तभद्रजी, शब्दार्थ- श्रीमती सुधासुमन्त; आकार-डिमाई, पृष्ठ १२+१००; प्रथम संस्करण- ई० सन् २००२; प्रकाशक- प्रज्ञा पारमिता प्रकाशन, पोस्ट बाक्स नं० १२, चिंचवड़, पूना - ४११०३३; मूल्य ५१/- रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक आगमोद्धारक आचार्य सागरानन्दसूरि जी का जीवन-चरित्र है जिसे हिन्दी भाषा में काव्य के माध्यम से श्री सुमन्तभद्रजी ने आचार्यश्री की ५४वीं पुण्यतिथि पर प्रस्तुत किया है। मालवशिरोमणि पंन्यास श्री हर्षसागर जी म० तथा उनके शिष्य श्री विरागसागर जी म० इस रचना के प्रेरक रहे हैं। श्री सुमन्तभद्र जी द्वारा अत्यन्त सरल और सारगर्भित शब्दों में रचित इस काव्य का शब्दार्थ श्रीमती सुधा सुमन्त ने किया है। कृति के प्रारम्भ में प्रकाशकीय के अन्तर्गत श्रीमती सुमन्त ने आचार्यश्री की संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित जीवनी प्रस्तुत की है। इस कृति से जनसामान्य जीवनचरित्र से परिचित होकर निःसन्देह उससे प्रेरणा प्राप्त करेगा। आज इस बात की आवश्यकता है कि इसी प्रकार वर्तमान रूप के अन्य प्रभावक आचार्यों के जीवन के बारे में भी सामग्री प्रस्तुत की जाये। ग्रन्थ की साज-सज्जा आकर्षक तथा मुद्रण सुस्पष्ट है। ऐसे सुन्दर प्रकाशन हेतु इसके लेखक, प्रकाशक तथा प्रकाशन में सहयोगी तीनों ही धन्यवाद के पात्र हैं।

— शिवप्रसाद

अनुसन्धान-१९, सम्पादक- आचार्य विजयशीलचन्द्रसूरि, आकार-डिमाई, पृष्ठ ४+१६४; प्रकाशनवर्ष- ई०सन् २००२, प्रकाशक- कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी स्मृति संस्कार शिक्षणनिधि, अहमदाबाद।

प्राकृत भाषा और जैन साहित्य विषयक सम्पादन और संशोधन के क्षेत्र में आज एकमात्र पत्रिका है **अनुसंधान**। गुजराती भाषा और देवनागरी लिपि में आचार्य विजयशीलचन्द्रसूरि जी म०सा० के सम्पादकत्व में प्रकाशित हो रही इस पत्रिका का प्रत्येक अंक जैन विद्या के मूर्धन्य मनीषियों के आलेखों से सज्जित हो रही है। इसी कड़ी का यह १९वां अङ्क है। इसमें सर्वप्रथम आलेख के रूप में सुप्रसिद्ध श्रावक कवि ऋषभदासकृत **व्रतविचाररास** नामक कृति को सम्पादित कर आचार्य विजयशीलचन्द्रसूरि जी ने प्रस्तुत किया है। **स्तवनचौबीसी**, **गौतमस्वामीनुं** स्तवन और **गौतम सुधर्म गणधर भास** ये तीनों लघु कृतियाँ हैं जिन्हें मुनि जिनसेनविजय जी ने सम्पादित किया

है। मुनि भुवनचन्द्रजी म०सा० द्वारा लिखित **विहंगावलोकन** भी अत्यन्त सारगर्भित है। इस अङ्क की एकविशेषता यह है कि इसमें १३ से १८ अङ्क तक के आलेखों की तालिका भी दी गयी है। हमें पूर्ण विश्वास है कि **अनुसंधान** के पूर्व अङ्कों की भाँति यह अङ्क भी प्राकृत साहित्यजगत् में प्रशंसा प्राप्त करेगा। आचार्यश्री भविष्य में भी **अनुसन्धान** के माध्यम से साहित्यजगत् को इसी प्रकार की महत्त्वपूर्ण शोध सामग्री प्रस्तुत करते रहेंगे, ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है। पत्रिका की साज-सज्जा अत्यन्त आकर्षक व मुद्रण त्रुटिरहित है। ऐसी विशिष्ट पत्रिका के प्रकाशन के लिये सम्पादक और प्रकाशक दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

— शिवप्रसाद

रामानंद विजय, लेखक- डॉ० मंगला प्रसाद, 'अपरूप', प्रथम संस्करण, ई० सन् २००१, प्रकाशक- कल्लोल प्रकाशन, नासिरपुर, वाराणसी, पृष्ठ सं० ६०, मूल्य रुपया एक सौ।

'भक्त रत्नावली' के अनुसार स्वामी रामानन्द मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तक, संचालक और शीर्षस्थ युगपुरुष थे। काशी में पञ्चगङ्गाघाट स्थित इनका आश्रम आन्दोलन की गतिविधियों का केन्द्र था। इनकी शिष्य मण्डली इन्हें राम का अंशावतार मानती थी। अनुश्रुति प्रसिद्ध है 'भक्ति द्राविड़ रूपजी लाए रामानन्द', आचार्य शङ्कर के मायावाद-अद्वैतवाद के विरुद्ध दक्षिण के ही चार आचार्यों ने भक्ति के विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत आदि सिद्धान्तों का प्रवर्तन किया। इनमें श्री सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य रामानुज का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त प्रतिपादित किया। रामानन्द इसी श्री सम्प्रदाय के युगपुरुष थे।

प्रयाग निवासी ब्राह्मण दम्पती पुण्यसदन और सुशीला ने मनु-सतरूपा की भाँति पुत्र प्राप्ति के लिए बड़ा जप-तप किया तो भगवान् राम ने देश को तत्कालीन दुर्दशा से मुक्त कराने के लिए ब्राह्मण दम्पती के यहाँ रामानन्द के रूप में अवतार लिया। उनकी शिक्षा-दीक्षा काशीस्थ श्रीमठ के आचार्य राघवानन्द के सान्निध्य में हुई जो रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा के एक दीप्तिमान आचार्य थे। इसी पीठ पर राघवानन्द के पश्चात् स्वामी रामानन्द प्रतिष्ठित हुए और उन्होंने हिन्दू समाज के सबसे कठिन दौर में शूद्रों और स्त्रियों को सामाजिक सम्मान दिलाने का क्रान्तिकारी कार्य किया। उनका आदेश था 'हरि को भजै सो हरि का होई।' उनके बारह शिष्यों में दो काशीवासी शिष्य रैदास 'चमार' और कबीर 'जुलाहे' थे। दो स्त्रियाँ भी उनकी शिष्यायें थी। इन्हीं स्वामी रामानन्द के अलौकिक कार्यों पर आधारित महाकाव्य 'रामानन्दविजय' की रचना डॉ० मंगला प्रसाद ने की है।

शङ्कर दिग्विजय के तर्ज पर महाकाव्य का नामकरण 'रामानन्दविजय' रखा गया

प्रतीत होता है क्योंकि रामानन्द ने भी यवनों के अत्याचार और हिन्दुओं के मिथ्याचार से अपने समाज को मुक्ति दिलाने के लिए बड़ा शक्तिशाली आन्दोलन चलाया और एक धार्मिक-सामाजिक नवजागरण का शंखनाद किया था। इस महाकाव्य की कथा भी लेखक के अन्य महाकाव्यों के समान संक्षिप्त है किन्तु कवि ने अपनी उर्वर कल्पना शक्ति के सहारे उसका विस्तार करके दस सर्गों में पूर्ण किया है। प्रथम ऐहित्य सर्ग में तत्कालीन आर्य संस्कृति की पतनशीलता का वर्णन किया गया है। दूसरे सर्ग में भारतभूमि को यवनों के अत्याचार से मुक्ति दिलाने के लिए राम का रामानन्द के रूप में अवतरित होने का संकल्प व्यक्त किया गया है। प्रयागवासी ब्राह्मण दम्पती के घर शिशु रामानन्द का जन्म होता है। तृतीय सर्ग में रामानन्द का काशी के श्रीमठ में राघवाचार्य से शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने का प्रसङ्ग वर्णित है। चतुर्थ सर्ग में रामानन्द द्वारा जननी जन्मभूमि के उद्धारार्थ अपना जीवन समर्पित करने का सङ्कल्प लिया जाता है। पिता के आग्रह के बावजूद वे घर नहीं लौटते। यह दुःखद समाचार सुनकर माता सुशीला ने प्राण-त्याग कर दिया और पिता पुण्यसदन भी विरक्त होकर घर से निकल गए।

पाँचवें सर्ग में रामानन्द का देशभ्रमण और देश की दुर्दशा का अवलोकन अङ्कित है। षष्ठ सर्ग में कौल दुर्जनानन्द की शास्त्रार्थ में रामानन्द जी से पराजय तथा इसी प्रकार उनकी अन्य विजयों का प्रभावशाली वर्णन है। सप्तम सर्ग में तपःपूत्र रामानन्द को ऋतम्भरा प्रज्ञा का साक्षात्कार वर्णित है। आठवें सर्ग में विजययात्रा से लौटने पर राघवानन्द उन्हें गद्दी के नए नायक के रूप में मान्यता देकर स्वयं महाप्रयाण कर जाते हैं। नवें सर्ग में रामानन्द जगद्गुरु की पदवी प्राप्त कर श्रीमठ में विराजते हैं और उनकी छत्रछाया में विरक्त वैष्णवों के विशाल अखाड़े स्थापित होते हैं। नगर-नगर में राम मन्दिर बनवाये जाते हैं और जाति-पाँति के भेद-भाव से ऊपर उठकर सभी को अध्ययन-पूजन का क्रान्तिकारी कार्यक्रम पूरी गति से सञ्चालित होता है। अन्तिम दशम सर्ग में उनके बारह शिष्यों का उल्लेख है।

काव्य की भाषा प्राञ्जल खड़ी बोली है। प्रत्येक सर्ग में अलग-अलग छन्दों का मधुर प्रवाह है। कवि विन्ध्यक्षेत्र का निवासी है और रचना में विन्ध्य की प्राकृतिक सुषमा का भी अच्छा वर्णन है यथा—

**‘विन्ध्याचल की घाटी श्यामल, तरु-तृण वीरुध से आच्छादित।
मृगाकीर्ण है वनस्थली, वन कुक्कुट मयूर रव कूजित।’**

कवि का कविमन बड़ा उर्वर है और वे प्रतिवर्ष एक-दो काव्य रचनाएँ हिन्दी संसार को भेंट कर रहे हैं। श्रीमठ के वर्तमान आचार्य परम श्रद्धेय स्वामी रामनरेशाचार्य का उन पर वरद हस्त है। आशा है कि शीतल छाया में कवि की काव्यशक्ति का निरन्तर विकास होगा और नितनूतन रचनाओं से वे हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि करते रहेंगे।

यह ग्रन्थ जगद्गुरु स्वामी रामानन्दाचार्य की सप्तशताब्दी महोत्सव के सुअवसर पर रचित स्वामी रामानन्द को अवसरानुकूल श्रद्धाञ्जलि है। विश्वास है कि इस रचना का हिन्दी पाठक स्वागत करेंगे।

— डॉ० शितिकण्ठ मिश्र

हनुमत्कवितावली (कवित्त संग्रह), रचनाकार—डॉ० मंगला प्रसाद 'अपरूप', प्रकाशक- कल्लोल प्रकाशन, नासिरपुर, वाराणसी, (प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय हनुमान संगोष्ठी के अवसर पर वितरण हेतु) प्रथम संस्करण, सन् २००१ ई०, पृ०सं० २६।

इसमें श्रीराम के अनन्य भक्त महावीर हनुमान की स्तुति पचास कवित्तों में की गई है। वे कर्म, ज्ञान और भक्ति मार्गों के परमाचार्य हैं। उनके अलौकिक व्यक्तित्व में तीनों साधनाओं का अनुपम संगम है। उनके उपकार भगवान् राम पर इतने हैं कि वे कहते हैं 'देबो न कछु रिनियाँ हौं, धनिक तु पत्र लिखाडा।' भगवान् के महाजन भक्त प्रवर श्रीहनुमान देश में दिव्य विभूतियों के भयावह पतन को देखकर भी थके-थके उदासीन भाव से श्रीराम की लीलाभूमि की दुर्दशा चुपचाप कैसे सहन कर रहे हैं? इसी आशंका से उद्वेलित होकर डॉ० मंगला प्रसाद ने हनुमान को जाम्बवंत की तरह इन कवित्तों के माध्यम से जगाने का प्रयास किया है।

प्रारम्भिक शारदा स्तुति की अन्तिम पंक्ति ध्यातव्य है— 'वित्त की कवित्त से है प्रकट तनातनी।' तृतीय कवित्त में देश की वर्तमान दुर्दशा का मार्मिक चित्र कवि ने खींचा है 'मान मद मोह मात्सर्य से सताये नर, फिरते हैं कालनेमि जहाँ तहाँ कितने।' श्री हनुमान को जोश दिलाता हुआ कवि उनके पूर्व अलौकिक कार्यों की राम-सुग्रीव मिताई, समुद्र लंघन, सीता खोज, लंका दहन, बाल्यावस्था में सूर्य का निगलना, लक्ष्मण शक्ति के समय संजीवनी लाना, अहिरावण को मारने आदि कार्यों का ओजपूर्ण कवित्त शैली में वर्णन करता है।

नवें कवित्त में काव्यरचना में छंद के महत्त्व पर वह लिखता है— 'कविमन व्याकुल है छंद रचना के हेतु फिरती स्वच्छन्द हिन्दी कविता सरस्वती।'

लेखक बचपन से हनुमान भक्त था, बाल्यावस्था में माँ ने भय से मुक्ति का मन्त्र दिया था— 'डरने का बात क्या है? प्रान! पिता के सपूत, डर लगे, टेर लेना हनुमान भैया।' वह उपालंभ भी देता है 'कलि की जवानी में क्या कपि तुम वृद्ध हुए।' वे बार-बार प्रार्थना करते हैं— 'आधि व्याधि अनगिन घेर है उपाधि कपि, संकट विकट घिरे संकटमोचन हो।' कवि की कविता में हार्दिक भक्ति है, देश की वर्तमान दुर्दशा का मार्मिक वर्णन है और संकटमोचन से मुक्ति की प्रार्थना है। आशा है आस्तिकजनों में इसका प्रचार होगा।

डॉ० शितिकण्ठ मिश्र

सूक्तिसंग्रह, सम्पादक- ब्र० यशपाल जैन, प्रकाशक- पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर (राजस्थान) ३०२०१५, प्रथम संस्करण २००२ ई०, पृष्ठ ७२, मूल्य ४/- रुपये।

विवेच्य पुस्तक में आचार्य वादीभसिंह विरचित **क्षत्रचूड़ामणि** नामक ग्रन्थ से ब्रह्मचारी यशपाल जी ने अत्यन्त श्रमपूर्वक सूक्तियों का सङ्कलन किया है। इसमें संकलित सूक्तियाँ हमारे दैनिक जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। इन पर चिन्तन-मनन करने से अवश्य ही भावों में निर्मलता एवं जीवन में शुचिता आएगी। भारतीय वाङ्मय में सूक्तियों का बड़ा महत्त्व है। इनका आकार छोटा होता है फलतः इन्हें याद करना सरल होता है और यही इनका सबसे बड़ा गुण है। संस्कृत जैन साहित्य में क्षत्रचूड़ामणि एक अनुपम रचना है। इस ग्रन्थ में विभिन्न विषयों पर पद-पद पर सूक्तियों का प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत कृति में सूक्तियाँ यथावत् ही दी गयी हैं, मात्र उनका हिन्दी अनुवाद अपने शब्दों में रखा है। सूक्तियाँ अकारादि क्रमानुसार हैं तथा प्रत्येक सूक्ति के अन्त में लम्ब (अध्याय) व श्लोक क्रमांक भी दिया है, जिससे पाठक मूल ग्रन्थ से भी मिलान कर सकें।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कुल ११ लम्ब हैं, लम्ब के क्रमानुसार दिए गए सुभाषितों के प्रकरण में प्रत्येक श्लोक के प्रारम्भ में उसकी विषय-वस्तु को स्पष्ट करने वाले प्रसंग-वाक्य अपनी तरफ से जोड़े गए हैं। इस तरह का प्रयास निश्चय ही पाठकों के लिए उपादेय सिद्ध होगा। पुस्तक आकार में छोटी अवश्य है, परन्तु इसकी विषयवस्तु सभी वर्ग के मनुष्यों के लिए समान रूप से उपयोगी है।

— अर्पिता चटर्जी

प्रमाणनिर्णय, कर्ता- आचार्य वादिराज : सम्पादक-अनुवादक- डॉ० सूरजमुखी जैन; प्रथम संस्करण वि०सं० २०५८/ई०सन् २००१; प्रकाशक- अनेकान्त ज्ञान मन्दिर शोध संस्थान, बीना (सागर) मध्य प्रदेश ४७०११३; आकार - डिमाई; पृ० ११०+५; मूल्य - सदुपयोग।

प्रमाणनिर्णय जैन-न्याय का एक प्राचीन ग्रन्थ है। इस में नैयायिक, मीमांसक एवं बौद्ध दार्शनिकों की प्रमाणविषयक मान्यताओं की खण्डनात्मक एवं मण्डनात्मक समीक्षा की गयी है। इस ग्रन्थ में सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण बताया गया है— सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं।

दार्शनिक साहित्य में ग्रन्थकार की अपेक्षा ग्रन्थ को उद्धृत करने की प्रथा अधिक है अतएव बहुत से ग्रन्थकार आज विस्मृति के गर्भ में हैं। सौभाग्य का विषय है कि **प्रमाणनिर्णय** का अधिक उल्लेख होने पर भी आचार्य वादिराज को भुलाया नहीं गया।

दसवीं एवं ग्यारहवीं शताब्दी दार्शनिक जगत् में एक अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है, क्योंकि उस समय के ग्रन्थकारों में प्रमाणों को व्याख्यायित करने की एक होड़-सी लगी थी। उन्हीं ग्रन्थकारों में प्रमाणनिर्णयकार वादिराजसूरि भी एक हैं— इनका समय दसवीं शताब्दी का प्रारम्भ या मध्यकाल माना जाता है। ये **मानमनोहर** नामक कृति (वैशेषिक दर्शन) के रचयिता वादिवागीश्वराचार्य और **प्रमेयकमलमार्तण्ड** के रचयिता प्रभाचन्द्र एवं अकलंकदेव के समकालीन माने जाते हैं। प्रमाणों को व्याख्यायित करने वालों में इष्टसिद्धिकार श्री विमुक्तात्मा का समय (८५०-१०५०) माना जाता है। इन्हें **न्यायमकरन्द** के रचयिता श्री आनन्दबोध (लगभग ११०० ई०) अपना गुरु मानकर **प्रमाणमाला** में कहते हैं— 'एतदेवोक्तं गुरुभिः - नान्यत्र करणात् कार्यं न चेत् तत्रङ्क तदा भवेत्।'

प्रमाणनिर्णय की व्याख्या करना सरल कार्य नहीं है, फिर भी जैन न्याय की विदुषी डॉ० सूरजमुखी जैन ने इसे व्याख्यायित करने का सफल प्रयास किया है। उनका यह विवेचन महत्वपूर्ण एवं सराहनीय है। ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने और उसे सदुपयोग हेतु निःशुल्क वितरित कर प्रकाशक संस्था बधाई की पात्र बन चुकी है।

धर्मेन्द्र कुमार सिंह गौतम

आगमिक और ऐतिहासिक कथाएँ, लेखक- मुनि विमलकुमार, प्रकाशक- आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राजस्थान), द्वितीय संस्करण, २००० ई०, आकार- डिमाई, पृष्ठ १३१, मूल्य - ४० रुपये।

मुनि विमलकुमार जी द्वारा लिखित 'आगमिक तथा ऐतिहासिक कथाएँ' सरल और सुबोध भाषा में जनसाधारण हेतु कहानियों के प्रस्तुतीकरण का सार्थक प्रयास है। कथाएँ प्रमाणित तो हैं ही, कहानी की तरह पठनीय भी हैं। कहानी के माध्यम से सन्देश स्पष्ट पहुँचता है, साथ ही कहानी की सरसता व स्वाभाविक प्रवाह भी बाधित नहीं होती है।

जीवन और दर्शन के नग्न तथा नीरस सत्य को कहानी आकर्षक तथा मनोरम बनाती है तथा स्वयं जीवन में भी आस्था का प्रबल संचार करती है।

मुनिजी का प्रयास सार्थक, स्तुत्य तथा अणुव्रत के प्रसार-प्रचार में सही पथ पर बढ़ा हुआ कदम है। इस पुस्तक में कतिपय पठनीय अणुव्रत के उदाहरण निम्नानुसार हैं—

(१) भंते! ऐसा उपाय बतायें जिससे मेरे दुष्कर्म नष्ट हों। (पृ० ११४)

आचार्य— तुम ज्ञानी पुरुषों की सेवा करो और ज्ञान प्राप्ति में उपयोगी वस्तुओं का सहयोग करो।

(२) कैसी क्रूरता, पाप का फल मनुष्य को निश्चित ही भोगना पड़ता है पाप किसी को नहीं छोड़ता। (पृष्ठ ६५)

मनुष्य पाप करने में स्वतन्त्र होता है; किन्तु फल भोगने में नहीं। (पृ० ६८)

इस प्रकार पूरे कहानी संग्रह में ऐसे शुभ अणु बिखरे पड़े हैं जो मानव जीवन को सद्मार्ग पर ले जाने में सक्षम हैं। पुस्तक रोचक तो है ही साथ ही सबके पढ़ने व मनन करने योग्य है।

— राधवेन्द्र प्रताप सिंह

जीवन और धर्म : लेखक- श्री केवलचन्द जैन, प्रकाशक- संघवी लालचन्द जीवराज एण्ड कम्पनी, बैंगलोर, आकार- डिमाई, पृष्ठ ११४; मूल्य- सदुपयोग।

श्री केवलचन्द जैन की प्रस्तुत कृति गद्य एवं पद्य दोनों में होने के कारण प्रथम दृष्ट्या आकर्षित करने में सक्षम है। पुस्तक का कुछ अंश अंग्रेजी भाषा में लिखा गया है, जिससे यह अंग्रेजी भाषा के पाठकों के लिए भी उपयोगी बन पड़ी है। इस पुस्तक में धर्म के व्यवहार पक्ष पर विशेष जोर देते हुए क्षमा, दया, सम्मान, सत्कार, जगत् की अनित्यता, मोक्ष की महत्ता एवं कर्म (सद्कर्म) की प्रधानता पर प्रकाश डाला गया है जो आधुनिक जीवनशैली व्यतीत करने वाले को सद्मार्ग पर लाने के लिए आवश्यक है। लेखक साधारण धरातल से बहुत ऊपर उठकर 'परस्य अदुःख करणम्' के मूल सूत्र में जन-जन को बाँधने का सफल प्रयास करता हुआ हर पृष्ठ पर दिखायी पड़ता है। पुस्तक सभी के लिये पठनीय और मननीय है। पुस्तक का साज-सज्जा आकर्षक तथा मुद्रण सुस्पष्ट है।

राधवेन्द्र प्रताप सिंह



*Statement About the Ownership & Other Particulars
of the Journal*

ŚRAMAᅇA

1. Place of Publication : Parśvanātha Vidyāpītha
I.T.I. Road, Karaundi,
Varanasi-5
2. Periodicity of Publication : Quarterly.
3. Printer's Name, Nationality and
Address : Vardhaman Mudranalaya
Bhelupur, Varanasi-10.
Indian.
4. Publisher's Name : Parśvanātha Vidyāpītha
Nationality and Address : I.T.I. Road, Karaundi,
Varanasi-5
5. Editor's Name, Nationality
and Address : Dr. Sagarmal jain
Dr. Shivprasad
As above.
6. Name and Address of Individuals : Parśvanātha Vidyāpītha
who won the Journal and Partners : Guru Bazar, Amritsar.
or share-holders holding more than (Registered under Act XXI
one percent of the total capital. as 1860)

I, Dr. Sagarmal jain hereby declare that the particulars given above are true to the best of my Knowledge and belief.

Dated: 1.4.2002

Signature of the Publishers
S/d Dr. Sagarmal Jain

30, 39, 33

NO PLY, NO BOARD, NO WOOD.



ONLY NUWUD.[®]

INTERNATIONALLY ACCLAIMED
Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry. As ceilings,

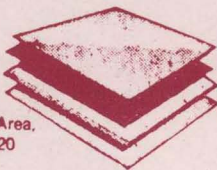
DESIGN FLEXIBILITY
flooring, furniture, mouldings, panelling, doors, windows... an almost infinite variety of

VALUE FOR MONEY
woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think NUWUD MDF.

Arma Communications



E-46/12, Okhla Industrial Area,
Phase II, New Delhi-110 020
Phones: 632737, 633234,
6827185, 6849679
Tlx: 031-75102 NUWD IN
Telefax: 91-11-6848748



*The one wood for
all your woodwork*



MARKETING OFFICES: • AHMEDABAD: 440672, 469242 • BANGALORE: 2219219
• BHOPAL: 552760 • BOMBAY: 8734433, 4937522, 4952648 • CALCUTTA: 270549
• CHANDIGARH: 603771, 604463 • DELHI: 632737, 633234, 6827185, 6849679
• HYDERABAD: 226607 • JAIPUR: 312636 • JALANDHAR: 52610, 221087
• KATHMANDU: 225504 224904 • MADRAS: 8257589, 8275121